अपने अपने कारावास

(कहानियाँ)

अपने अपने कारावास



सरोज वशिष्ठ

उस हवा के नाम जो मेरे और मेरे सपनों के बीच से गुजरती है

उस हवा के नाम जो मेरे और मेरे अपनों के बीच से गुजरती है

अपनी बात

किसी देश में कितनी प्रगति हुई, कौन-सा देश कितना अधिक शक्तिशाली है यह तो इतिहास और राजनीति के विषय हैं, पर हर पल बदलते संसार में हर इन्सान सोचता ज़रूर है, जूझता ज़रूर है, अनुभव और कामनाएं करता है। और अन्त में हर इन्सान किसी न किसी हद तक त्रस्त और अकेला रह जाता है। जो कोई भी अपनी आकांक्षाओं, सपनों, अपने अकेलेपन, अपने विचारों को व्यक्त कर लेता है उसी की रचना को मैं कहानी मानती हूं। लिपि अलग-अलग ज़रूर होती है पर नाम एक ही होता है—कहानी। एक प्रबल प्रचण्डता, एक संक्षुब्ध लालसा, विकार, वेदना या अन्तर्वेग हर कोई हर रोज़ हर पल अनुभव करता है। हर रोज़ एक कहानी लिखी जा सकती है। वैसे यह हवा ही चलनी बन्द हो जाए तो कम से कम कहानी खत्म हो सकती है। पर उस हवा का क्या किया जाए जो यक व यक बिना पूर्व सूचना के, अचानक ही, गर्म हो जाती है, एक हादसा बन कर आसपास मंडराती रहती है।

इस संग्रह की मेरी सभी कहानियों का केन्द्र बिन्दु यही गर्म हवा है—जो बिना वजह चलने लगती है, बस यूं ही—ठीक वैसे ही जैसे अचानक एक दिन बियाना बहुत बड़ा स्वास्तिक बन गया।

वैसे हादसे मेरे साथ, मेरी कहानियों के साथ बेहिसाब हुए हैं। उन हादसों से सब नए-पुराने लेखक परिचित हैं।

अपनी कहानियों के संदर्भ में पत्रकारिता और अनुवादों के क्षेत्र में अपनी सक्रियता भी मेरा एक बहुत बड़ा हादसा है। पर फिर सोचती हूं अनुवाद ही मेरे लेखन का कारण बने। सारिका में विदेशी लेखकों के मेरे

बेहिसाब अनुवाद प्रकाशित हो चुकने के बाद एक दिन सुदीप से अचानक भेंट हुई थी। मैं सुदीप की बहुत आभारी हूं। उसने मुझसे कहा था, "आपके अनुवाद इतने संवेदनशील हैं, आप स्वयं कहानी क्यों नहीं लिखतीं ?" 'सही फैसला' मेरी पहली कहानी थी और सारिका में प्रकाशित हुई थी।

इसके बाद सचेतना ने मेरी दो कहानिया प्रकाशित की थीं। इनके अलावा मैं शरन जी की भी बहुत आभारी हू। तेरह-चौदह वर्ष तक हम लोग विविध भारती के स्टूडियो में उनसे डरते रहे, बावजूद उस डर के जो स्नेह, आलोचना और प्रोत्साहन उनसे मुझे मिला वह मेरी अपनी अमूल्य निधि है। अन्त में मैं सबसे अधिक आभारी हू सतीश की जिसने मुझे कभी कुछ भी करने से रोका नहीं। "इस कहानी में तुम कितनी हो" जैसा प्रश्न अगर आदरणीय जैनेन्द्र जी पूछ सकते हैं तो सामान्य पाठक को केवल राष्ट्रीय रोग से ग्रस्त मान कर क्षमा कर देना चाहिए। यह प्रहार सतीश ने सहे हैं, अगर न सहते तो 'सही फैसला' मेरी आखिरी कहानी होती। एक वैज्ञानिक सहयोगी ने तो अनाधिकार सन्देश तक भेज दिया था, "इनसे कहिए ऐसी कहानियां उन्हें नहीं लिखनी चाहिए।" यह हादसा नहीं तो और क्या है ?

ए-1/2 एन. पी. एल. कालोनी
नयी दिल्ली-110060

—सरोज वशिष्ठ.

क्रम

अपने-अपने कारावास

एक अनूठा नशा होता है किसी पत्रिका में अपना नाम छपा हुआ देखकर। अपने लिखे शब्दों को पढ़कर, देखकर वह नशा नहीं आता जो अपना नाम पढ़कर, देखकर आता है। अक्षरों से ही शब्द बनते हैं, शब्दों से बनते हैं नाम। शब्द—एक धुएं की लकीर की तरह मन से उठते हैं और हमेशा के लिए कागज पर अंकित हो जाते हैं अमिट, स्थायी, शाश्वत। है कोई और चीज इस दुनिया में इतनी स्थिर!

"आप किस नाम से लिखेंगी?"

"अपने ही नाम से।"

"पर आप एक सरकारी मुलाज़िमा हैं, आपको डर नहीं लगता है?"

"डर? किस बात का? मैं कोई गलत काम करने जा रही हूं क्या? मैं तो केवल नाटकों की समीक्षा ही लिखूंगी।"

वैसे भी मेरा और भय का सम्बन्ध सदियों पहले टूट गया था, और कुछ रिश्ते ऐसे हैं जो टूट कर दोबारा जुड़ नहीं सकते हैं। काश! यही नियम जीवन के अन्य रिश्तों पर भी लागू हो सकता। हम क्यों बार-बार टूटकर फिर जुड़ जाते हैं। शायद इसीलिए कि इस दुनिया में हर काम समझौते से ही चलता है। यहां कभी-कभी पत्थरों को हीरे-मोती कहना पड़ता है, और मजबूरन किसी गंवार को काबिल मानना पड़ता है। मजबूरी! इससे बड़ी सजा दुनिया में दूसरी और कोई नहीं है। इससे बचने का कोई तरीका नहीं है। "आइये मिलिए। ऐसी बेबाक महिला से आपका पहले कभी परिचय न हुआ होगा।"

यह तो केवल एक ही परिचय है मेरा। कोई बला कहकर परिचय करवाता है, कोई कहता है तूफान है, अंधेरी है, फलर्ट है…

यह सच है कि मेरे मन में जो भी आए, जब भी आए, जब जी चाहे जिसे चाहे कह देती हूं। पुरुषों में बैठ कर डर्टी जोक्स ऐसे सुना देती हूं मानो गाजर का हलवा बनाने की विधि समझा रही हूं। अगर किसी के चेहरे गुलाबी होते हैं तो जाहिर है पुरुषों के ही। मुझे तो यह कभी भी समझ नहीं आया कि इन किस्सों को डर्टी जोक्स नाम कैसे दिया गया। यह तो सिर्फ सूक्ष्मता और अक्सर धूर्तता की इन्तहा भर होते हैं जिसे कुछ लोग समझ ही नहीं पाते। पर मैं जानती हूं—सिर्फ मैं - कि मैं न तो बला हूं, न तूफान, न अंधेरी और न ही फलर्ट। यह तो एक मुखौटा भर है—नहीं, कई एक मुखौटे हैं—जब जैसी जरूरत हुई जाने-अनजाने पहन लिया। अगर यह मुखौटे मेरे पास न होते तो शायद मैं अब तक कहीं दूर अंधेरे में लुप्त हो गई होती। कभी कोई मुझे दोबारा ढूंढ़ ही न पाता। क्योंकि जो मैं चाहती हूं, उसे पा नहीं सकती। क्या चाहती हूं, यह ठीक से नहीं जानती, या शायद बहुत कुछ चाहती हूं और उतना सब कुछ पा लेना नामुमकिन है। उस सब कुछ में भौतिक चीजें नहीं के बराबर हैं। दरअसल कुछ घाव हैं जिन्हें मैं हर समय महसूस करती हूं, सुनती हूं पर भर नहीं सकती। चुप नहीं करा सकती। मुझे लगता है—मैं एक घेरे के बाहर खड़ी हूं जिसके अन्दर मेरा प्रवेश निषेध है। पर मेरी अंगुलियां हथौड़े सी मजबूत हैं और इन से मैं उस घेरे को तोड़ सकती हूं। तोड़ने की अनजानी कोशिशों में लगी भी रहती हूं। इनमें से एक कोशिश का जरिया मैंने खोज निकाला है। वह है लिखना—कुछ भी, कहीं भी, कैसा भी। कहा न मैंने एक अनूठा-सा नशा है, अपना नाम किसी पत्रिका में छपा देखकर मुझे लगता है मैंने उस घेरे को पूरा नहीं तो एक हिस्सा तो पार कर ही लिया है। या फिर उसे थोड़ा-सा तोड़ दिया है।

अक्सर मुझे किसी प्रसिद्ध व्यक्ति को भेंट करने के लिए अनुबद्ध किया जाता है। पिछले नौ वर्षों में मैं अनगिनत गायकों, नर्तकियों, लेखकों, नाटककारों से मिल चुकी हूं। उनसे बातें की हैं, उन पर लेख लिखे हैं। हर बार भयभीत-सी अन्दर ही अन्दर कांपती हुई मैं चन्द प्रश्न लिखकर

हिले, कुछ बुदबुदाए और मुझे बैठने को कहा। इससे पहले कि मैं कमरा पार कर सकूं वह जल्दी-जल्दी बाहर आ गया था। वह मुझे अपनी केबिन में ले गया। छोटी-सी केबिन, चारों ओर शीशे की दीवारें। आसपास की किसी भी केबिन में झांक लो। कमरे में सहसा एक सहज-सी आत्मीयता भर गई। उसने मेरे बारे में, मैंने उसके बारे में सवाल पूछे। चाय का दूसरा कप मेरी ओर सरकाते हुए धीमे से उसने पूछा था, "आप इतनी यंग कैसे लगती हैं?"

वह मेरी सराहना नहीं कर रहा था, उसके चेहरे पर सचमुच कौतूहल फैला हुआ था।

"आप झूठ बोल रही हैं। आप पैंतालीस वर्ष की हो ही नहीं सकतीं। यह बच्चे जरूर आपके सौतेले बच्चे होंगे। यह कैसे हो सकता है? इस का रहस्य क्या है?"

"मैं तेरह वर्ष की उम्र से ही प्रेम कर रही हूं। लव हैज़ केप्ट मी यंग, परहैप्स।"

यूं ही कह दिया था मैंने, और कोई उत्तर सूझा न था। पर सोचती हूं कितनी अजीब बात है! मैं इतने वर्ष से एक ही आदमी से प्रेम कर रही हूं। अल्हड़पन में किए वादे अभी तक निभा रही हूं, ऐसा नहीं कि मेरे पति दोषरहित है। सबसे बड़ा संतापक दोष है हर बात में अत्युक्ति का प्रयोग। शुरू-शुरू में कहा करती थी मैं कि यह जार्ज बर्नार्ड शा के भतीजे हैं। अतिवाद का शौक सीधे वहीं से पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त किया है। समय बीतता गया और ऊंची आवाज़ में किए गए बड़े छोटे दावे पूरे न हो पाये तो चिढ़-सी आने लगी। हर उतार चढ़ाव को सफाई से संभालने में मैं धीरे-धीरे माहिर होती गई पर मेरे पति की वाचालता और मर्यादा का उल्लंघन करके बातें करने का तरीका न बदला। मुझे बहुत-से ऐतराज हैं पर प्रेम अभी भी है।

"चलिए सोमोवार चलते हैं।" यह पैसेजनुमा रेस्तरां जिस की दीवारों पर पतंगें लटक रही थीं, हमारा रेन्डेवू बन गया। हर शाम पांच बजे हम वहां मिलते। सात बजे वह मुझे टैक्सी में बिठाकर घर छोड़ आता। मैं रोज कहती कि मैं स्वयं ही चली जाऊंगी। पर वह हर बार मना कर देता

मानो मैं नन्ही-सी बच्ची हूं जो बम्बई की भीड़ में खो जाएगी। चाय कॉफी व टैक्सी का बिल मैं एक बार भी न चुका सकी। हर बार पर्स की ओर बढ़ा मेरा हाथ वह हवा में थाम लेता, "आप मेरी मेहमान हैं।"

सात, आठ, नौ, दस और फिर रात के बारह भी बजने लगे। इस बीच हम क्या करते ? समुद्र किनारे बैठ चार्ली चैपलिन के बचपन से लेकर जामानूरी कावाबाटा के अकेले बुढ़ापे तक पहुंच जाते। बातें, बातें और बातें। हर दूसरे दिन मैं उसे याद दिलाती कि मुझे उसके बारे में लेख लिख-कर भेजना है— जल्दी।

"जल्दी ? जल्दी क्या है ?" मुझे हर काम जल्दी ही करना पसन्द है। पर उसे कोई जल्दी न थी, और फिर उसने पूरी तरह से मेरा भार सभाल लिया था, मुझे किस दिन कितने बजे कहां पहुंचना है, क्या करना है, वह निर्धारित करता। अजीब आदमी है, आधी-आधी रात तक हम अकेले घूमते रहते हैं, पिक्चर देखते हैं, नाटक देखते हैं, कई लोगों को मिलने जाते हैं पर उसने कभी कोई असंगत व्यवहार मेरे साथ नहीं किया। मेरा मन कई बार सवाल करता कि क्या उसका इतना विनम्र व सदाचारी होना उसका सामान्य रूप है ? आखिर कोई भी पुरुष किसी नारी पर इतना समय व धन क्यों बहाता है ? उसे मेरे साथ-साथ घूमने से क्या मिलता है ? इस जान-पहचान को वह इतना व्यापक और विस्तृत रूप क्यों दे रहा है ?

आखिर एक दिन मैं जिद कर के अपने लेख के लिए सामग्री एक-त्रित कर ही रही थी। वह बोलता रहा और मैं लिखती रही।

काम पूरा हो गया पर हमारा साथ न छूटा। हमें शायद एक-दूसरे की आदत-सी पड़ गई थी। बम्बई में मेरा आखिरी दिन भी उसी के साथ ही बीता था। मैं बेहद खुश थी। मेरे लिए जो असहाय घड़ियां थीं, वे कितनी सहजता से बीत चुकी थीं। उसने मुझे फिल्म देखने का निमंत्रण दिया था। हाल में हम दोनों अपनी पूरी शक्ति से कृत्रिम बनावटी सहजता से बैठे थे।

"मुझे डर था कि तुम नहीं आओगी।" उसके होंठ मेरे बालों को छू रहे थे। मैं मानो झूले में लटकी आनन्दित-सी उसकी मौजूदगी को मन-ही-मन पालने में झुला रही थी। मेरी आंखें परदे पर टिकी थीं और मैं

अत्यन्त निश्चलता की हालत में बैठी थी। उसका हाथ जो मेरे हाथ के एकदम नजदीक था, जल्दी से हिला और मेरे हाथ पर आकर रुक गया। मैंने कोई आपत्ति न की— चाहते हुए भी न कर सकी। मेरा हृदय एक तीखी पीड़ा से फैल गया जैसे प्रसव के समय गर्भाशय। मैंने आंखें बंद कर लीं। उसका हाथ अब मेरी अंगुलियों को महसूस कर रहा था। दबा रहा था। मसल रहा था। उसके तीखे नाखून मेरी हथेली में चुभ रहे थे। मुझे पता नहीं चल रहा था कि एकाएक जीवित हो उठी शिराएं मेरी अंगुलियों की थीं या उसकी। क्योंकि हमारी अंगुलियां एक-दूसरे में बेतरह उलझी हुई थीं। एक फव्वारा-सा मेरे अन्दर से फूट निकला था।

हम दोनों विवाहित थे इस लिए यह सब निषेध था। न तो इसकी इजाजत भगवान दे सकता है न मैं। जब हम हाल से बाहर आए तो उसका चेहरा एकदम खिंचा हुआ था। बहुत हिम्मत बांध कर उसने कहा, "आज रात तुम मेरे साथ ही बिता दो।" एक पल रुककर बोला, "चलो, कॉफी पीने चलते हैं।"

"नहीं, बहुत देर हो गई है।"

उसकी आहत आंखें देखकर पल-भर के लिए मुझे लगा कि मैं अपना एक आवरण उतारने वाली हूं, एक मुखौटा उतारकर फेंकने वाली हूं— अमेधना वाला।

इससे पहले कि वह मेरी कमजोरी को महसूस कर सके, मैंने टैक्सी ड्राइवर को काफपरेड की ओर जाने का आदेश दे दिया। वह सदा की तरह मुझसे कुछ दूरी पर बैठा था। चन्द मिनटों में टैक्सी घर के बाहर खड़ी थी।

मैंने टैक्सी की खिड़की पर झुककर कहा, "थैंक्स फार आल यू डिड फार मी।" उत्तर में उसने धीमे से मेरे हाथ दबा दिए।

अपने कमरे में मैंने एक अजीब अकेलेपन में स्वयं को घिरा हुआ पाया। शीशे में मैंने अपना पैंतालीस वर्ष बूढ़ा चेहरा देखा। कल जब मैं अपने पति की बांहों में पहुंच जाऊंगी तो बावजूद पच्चीस वर्ष के वह मुझे उतना ही उत्तेजित कर देंगे जितना पहली बार छूने पर किया था। खिड़की से घुला-मिला अनुराग और एक प्रणय-ध्वनि मेरे कानों से होकर पूरे शरीर

मे छा जाएगी । अन्त में उनका हाथ मेरे शरीर के किसी भी अंग पर रख कर अपना स्वामित्व जतलाता हुआ, रुक जाएगा । वह सो जाएंगे और मैं भी । या शायद मैं पत्थर की तरह जड़ बनी पड़ी रहूंगी ।

एकाएक मेरी आंखों मे आंसू उभर आए । बात कुछ भी नहीं थी। कुछ भी तो नहीं । एक अचानक हुई भेंट, एक छोटा-सा प्रसंग । एक उपकथा या एक अंश, अंधेरे मे बिताए कुछ क्षण, जिन्हें कविता का नाम भी दिया जा सकता है । पर मैंने उन्हें अस्वीकृत कर दिया, निष्फल जानकर तिरस्कृत कर दिया । अब आगे क्या हो सकता है ? कुछ भी नहीं। अगर हम कभी दोबारा मिले भी तो क्या होगा ?

पर हम क्यो कर मिलेंगे ? जिस काम से मुझे उससे मिलना था वह तो बखूबी पूरा हो चुका था । एक बार फिर मेरा नाम एक पत्रिका मे छप गया, हर बार की तरह खूब नशा चढ़ा ।

और फिर दोबारा मुलाकात पर तो पहरे लगे हुए हैं । जिन्हें हटाना व तोड़ना मेरे बस का नहीं । मुझ से ज्यादा शक्तिशाली प्रतिनिधि मेरे रास्ते मे खड़े हैं । सदियों से क्रूर शासन से पीड़ित, अतिनिर्दयता से शासित मेरा मन मुझे अपने लिए सन्तोष या अनुकूल सुख ढूंढने की आज्ञा ही नहीं देता ।

ऐसी भी तो औरतें हैं जो इन पहरों को तोड़-फोड़कर अपने-अपने बन्दीगृहों से भाग निकलती है, पूरे रेगिस्तान पार कर जाती हैं और कई वीरानो से गुजरकर एक नए क्षितिज पर पहुंच जाती है। पर मेरा शायद मुझे ऐसा करने से रोकता है । एक अजीब तरह की दुर्बलता, एक गहन अनुयोग मेरे अन्दर भरा हुआ है । मुझे अपनी ही बनाई दीवारों के अन्दर रहना है । अपने न्यायालय मे मैंने स्वयं को यही निर्णय सुनाया है, कारावास का दंड प्रलय दिवस तक मुझे सहना है ।

किया था। बगीचे के बीच में लगे सौ साल पुराने पीपल के पेड़ के नीचे वह बैठी थी—अकेली—मानो किसी का इन्तजार कर रही हो। बच्ची एक हाथ में मेरा चाबी का गुच्छा थामे और दूसरे हाथ में मेरा एक हाथ मज-बूती से पकड़कर अपनी मां के पास ले गई थी। वह हम दोनों को देखकर थोड़ी मुस्कराई थी—एक बहुत ही उदास लुटी-सी मुस्कराहट, एकाएक मुझे लगा था उसके अन्दर एक शोर था जो एक चुप आह बनकर उसके चेहरे पर पूरी तरह से छा जाने के बाद हमेशा के लिए थम गया था— वह थोड़ा रुककर फिर मुस्कराई थी—मानो किसी पीड़ा का आभास पूरी शिद्दत में जाग उठा हो। वह आहत चेहरा मुझे जाना-पहचाना-सा लग रहा था। मैंने मुस्कराते हुए कहा था—"आपकी बच्ची बहुत प्यारी है। देखिए न मेरे गुच्छे को लेकर कैसे नाच रही है।"

"सुजाता—क्या कर रही हो? चाबियां लौटा दो।"

"न, न, रोकिए मत, खेलने दीजिए न। इसने मुझे बताया कि आप नृत्य करती हैं?" मैं मन-ही-मन अन्दाजा लगा रही थी—दिल्ली की यह कौन-सी नई-पुरानी कलाकार है जिसे मैं पहचान नहीं पा रही हूं। "जी हां, मैं भरत नाट्यम करती हूं।"

"बहुत ही जाना-पहचाना चेहरा है आपका…"

"मेरा नाम करुणा सेठी है।"

"ओह नो…तुम तो इत्ती-सी होती थी, करुणा…सलीमा की बेटी हो न?"

"क्या आप अम्मी को जानती हैं?"

"उन्हें भी और तुम्हें भी, बहुत अच्छी तरह से। याद नहीं है पन्द्रह साल पहले सलीमा के अमरीका चले जाने से पहले तुम अम्मी का हाथ पकड़े नाट्यकला केन्द्र हर शाम आया करती थी, नाचती ठुमकती। मैं सरोजनी हूं, सरोजनी।" मैंने याद दिलाया।

"हां, याद है कुछ कुछ…"

उसकी आंखें धुंधला गई थीं।

"सलीमा तो मुझे पता है खूब काम कर रही है अमरीका में—कहो, तुम भी तो साथ ही चली गई थी।"

"हां।"

"क्या किया उसने वहां ?"

"नृत्य सीखा," मेरी आंखों में उभरे प्रश्न का उत्तर उसने स्वयं ही दे दिया था, "अमरीका में ही सीखा और अब भारत लौट आई हूं··· हमेशा के लिए।" उसने ऐसे कहा था मानो किसी लाश को कब्र में दफनाने की तैयारी कर रही हो।

"पति क्या करते हैं ?"

बच्ची की शक्ल से जाहिर था कि पिता विदेशी है। प्रश्न पूछते ही मैं पछता गई थी। पति के रहते कोई युवती इतनी उदास, इतनी आहत कभी नहीं लग सकती। वह कुछ बुदबुदाई थी, मानो इस अप्रिय विषय पर वह बात न करना चाहती हो। बच्ची ठोकर खाकर गिर गई थी। हमें बातचीत रोकने का बहाना मिल गया था और उसे आश्वस्त होने का समय भी।

हमेशा की तरह गोपी का बगीचा बहुत से लोगों से सजा हुआ था। कुछ सचमुच ही कविता पाठ सुनने आए थे, कुछ किन्हीं महत्त्वपूर्ण अतिथियों से सम्पर्क स्थापित करने, कुछ पत्रकार थे, कुछ गोपी के बीस वर्ष पुराने दोस्त। करुणा गोष्ठी के समाप्त होने के बहुत बाद पहुंची थी। कब···किसी को पता भी न चला था···सब बियर या शरबत के गिलास थामे अपने-अपने संसार में खोए, मस्ती-भरी गप्पें लगा रहे थे।

आज सोचती हूं, क्यों मैंने उस जन-समूह से हटकर करुणा से बातचीत शुरू की। बच्ची ठोकर खाकर गिर गई थी तो मुझे हट जाना चाहिए था। क्यों मैं करुणा के पास ही खड़ी रही ? उसकी मां को मैं बरसों पहले जानती थी, यह सच है, पर मुझे इस युवती से क्या लेना-देना ? अमरीका से भरत नाट्यम सीखकर भारत आई है। कुछ दिनों में तंग आकर लौट जाएगी। पर नहीं···ठोकर खाई बच्ची फिर से मेरा चाबी का गुच्छा उठाकर ठुमक रही थी। मैं करुणा की ओर देखकर मुस्करा रही थी··· एकदम बेमानी मुस्कान रही होगी मेरी पर मैं मुस्कराई जरूर थी। वह गोपी को मिलने आई थी। गोपी ने उसे कहा था—गोष्ठी बारह बजे समाप्त हो जाएगी। फिर बात करेंगे। पर वहां तो एक बजने को आया। काफी लोग जमे हुए थे, खास तौर पर वह लोग जिनके हाथों में बियर के

गिलास थे। हमें बहुत पहले लौट जाना चाहिए था पर बातों का कोई अन्त नहीं, चाहे मुलाकाती पहली बार मिले हों या पुराने मित्र हों। खैर एक बजे के बाद तो वहां रुकने का सवाल ही नहीं उठता था। चलने से पहले स्वतंत्र पत्रकार होने के नाते मैंने करुणा के बारे में कभी लेख लिखने की इच्छा व्यक्त की थी। उसे तो मानो डूबते-डूबते मैंने बचा लिया था। यही उसकी सबसे बड़ी समस्या थी। अपने भारत लौट आने का प्रचार-प्रसार वह कैसे करे? कैसे उसे नृत्य करने के लिए निमंत्रण अनुबन्ध प्राप्त हों? उसने मुझे कहा था, "मेरी मदद कर दीजिए…जैसे भी हो…"

"तुम चिन्ता ही मत करो। मैं तो लिखूंगी ही, अन्य पत्रकारों, समीक्षकों से भी परिचय करवा दूंगी। और फिर तुम्हें दूर दर्शन पर भी तो प्रोग्राम मिल सकते हैं।"

"मैं यहां किसी को नहीं जानती हूं।"

"तो क्या हुआ? सलीमा को तो सभी जानते हैं। तुम कल ही वहां जाना। देखना तुम्हें तुरन्त प्रोग्राम मिलेगा।"

ठीक वैसा ही हुआ, जैसा मैंने आश्वासन दिया था। न केवल दूर-दर्शन बल्कि अन्य कई सांस्कृतिक संस्थाओं ने भी उसे निमन्त्रित किया। सभी पत्र-पत्रिकाओं में उसकी चर्चा हुई, पर कई बार फोन पर बातचीत के बावजूद मेरा लेख न लिखा गया। महीनों बाद एक संस्था की ओर से निमंत्रण पत्र आया—करुणा की भरत नाट्यम कला का प्रदर्शन था। सुबह करुणा का फोन आया।

"आप आएंगी न?"

"ज़रूर, और इस बार लिखूंगी भी। अपने कुछ चित्र मुझे दे देना।"

"उसकी चिन्ता आप मत कीजिए, बस आप आ जाइएगा।"

शायद इस लेख पर कोई प्रतिबन्ध किसी बाहरी शक्ति ने लगा दिया था। मैं उस दिन भी न जा सकी। बहुत बुरा लग रहा था। अपनी एक पत्रकार मित्र निशा को फोन पर करुणा के बारे में सब बताया। उससे निवेदन किया कि वह मेरी जगह चली जाए।

"हां, हां, तुम निमंत्रण पत्र भिजवा दो, मैं तुम्हारा काम कर दूंगी।"

महीनों बीत गए। जब-जब निशा मुझे मिलती, वह मुझे आश्वासन

ा, "यह लेख जल्दी ही छप जाएगा। कोशिश करूंगी अगले अंक में
ने की।"

कॉफी के प्याले, कॉफी हाउस का निरन्तर बढ़ता शोर, लोगों का
ा प्रवाह आगमन और इन सब के बीच चल रही हमारी गप्पें। एका-
क विषय परिवर्तन करते हुए निशा बोली, "सुनो, वह करुणा वाला लेख
आज छप गया है। सुबह उसका फोन आया था, बेहद खुश थी," निशा ने
मुस्कराकर थैले में से पत्रिका निकाली। चित्र व लेख ने पूरा सफा घेर रखा
था। मैंने जल्दी-जल्दी लेख पढ़ा था। गप्पों का कभी न खत्म होने वाला
म छोड़कर मैं जल्दी से बाहर खड़े स्कूटर की ओर लपकी थी। लंच से
पहले घर पहुंचना जरूरी था। स्कूटर पार्लियामेंट स्ट्रीट पर आ गया था।
दूरदर्शन केन्द्र के बाहर मेरी निगाह फुटपाथ पर फुदकती सुजाता पर पड़ी
थी। स्कूटर रोककर मैं वहीं उतर गई। सोचा, पांच मिनट बात कर ही
लूं, "अभी अभी तुम्हारी ही बातें हो रही थीं। उस दिन मैं आ न सकी।
पर तुम्हारा नृत्य दूरदर्शन पर हर बार देखा। अच्छा नृत्य करती हो।
कहां थी इतने दिन ?"

"मैं कल ही लौटी हूं। यूरोप गई थी दो महीनों के लिए। आपको
बहुत-बहुत धन्यवाद। आपने मेरी कितनी मदद की है..." दो नन्हे
नन्हे कोमल हाथ मुझे छू रहे थे। मैंने थोड़ा नीचे झुककर सुजाता का हाथ
थाम लिया था, "हैलो सुजाता," उसने उत्तर तो दिया था पर होंठों से
नहीं। उसने मेरा हाथ और कसकर पकड़ लिया था। मैंने भी जवाब में
उसके हाथ पर हल्का-सा दबाव डाला था।

"यहां कैसे आई हो ?" करुणा के हाथ में एक बड़ा-सा थैला था,
"आज प्रोग्राम है ?" मैंने पूछा था।

"नहीं, पिछला चैक उठाना है। मैं तो बाहर चली गई थी, शायद
इसलिए मुझ तक नहीं पहुंचा है। दो चक्कर काट चुकी हूं, अभी तक यह
नहीं पता चला कि मुझे चैक कहां से मिलेगा।"

"क्या कहती हो, यह तो बड़ी मामूली-सी समस्या है। चौथी मंजिल
पर तो है इसका दफ्तर। चल, मैं साथ चलती हूं। पांच ही मिनट
लगेंगे।"

चौथी मंजिल पर पहुंचकर पहले सही कमरे को फिर सही व्यक्ति को ढूंढा और फिर चैक की खोज शुरू हुई। इस बीच सुजाता ने मेरा हाथ एक पल के लिए भी नहीं छोड़ा था। मैं और करुणा धीमे-धीमे बातें करती रहीं। एकाएक सुजाता ने अपना निर्णय दृढ़ स्वर में सुनाया था, "आई एम नाट गोइंग विद माई ममी। आई वान्ट टू कम विद यू।"

"हां-हां क्यों नहीं, मैं तुम्हें अपने साथ ले जाऊंगी।" मैंने उसे टालने के लिए यह बात न कही थी, यू ही बस अनजाने में अपना स्नेह जतला दिया था। उत्तर सुनकर उसने अपनी जकड़ और कस दी थी। बातों के दौरान एक-आध बार मैंने अपना हाथ छुड़ाने की कोशिश भी की थी, अकारण ही, पर हर बार सुजाता बोली थी, "डोन्ट लीव माई हैन्ड। आई एम कमिंग विद यू।"

चैक की खोज समाप्त हो चुकी थी। जल्दी ही वह करुणा को मिलने वाला था। पांच मिनट की जगह मैंने करुणा के साथ आधा घंटा बिता दिया था। उसने एक-दो बार कहा भी था, "आप तो फंस गईं।"

"कोई बात नहीं, तुम्हारा काम हो गया। घर जरूरी पहुंचना है नहीं तो कॉफी पीते, फिर कभी सही।" इस बीच हमने बहुत से विषयों पर चर्चा कर डाली थी। करुणा को हर कलाकार की तरह बहुत-सी शिकायतें थीं, कहीं से अनुदान नहीं, यात्रा में वाद्य यन्त्रों को सुरक्षित रखने के लिए प्रथम श्रेणी की रेल यात्रा में किसी तरह की रियायत की व्यवस्था नहीं और सबसे भयंकर शिकायत कला का सही मूल्यांकन करने वाले व्यक्तियों की कमी। एक लम्बी कहानी है रचनात्मक संघर्ष की जिसे करुणा भी सह रही थी। वैसे संस्कृति के चोट खाए चेहरे मैं बरसों से देख रही हूं—जिनमें से अधिकांश जाने-माने प्रतिष्ठित चेहरे रहे हैं। अनेक अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनों में भाग लेकर पुरस्कार जीत कर जिस देश की इज्जत बढ़ाई जाती है, जिस देश की निंदिया सवारी जाती है, उसी देश में लौटकर वह चेहरे खोखला उठते हैं। बातों के दौरान मैंने महसूस किया था कि क्या ऐसी लड़की को जिसके चेहरे पर त्राहि-त्राहि स्पष्ट लिखी हो, और त्रसित किया जा सकता है? कैसा क्रूर होगा वह पुरुष

चैक लेकर हम तीनों सीढ़ियों तक आ गए थे। करुणा को पांचवीं मंजिल पर जाना था—अपने भारत लौट आने की सूचना उसे सम्बन्धित अधिकारी को देनी थी। मुझे नीचे जाना था। हम दोनों के बीच खड़ी थी सुजाता, एक नन्ही सी खूबसूरत-सी कोमल-सी कली। न वह करुणा को ऊपर जाने दे रही थी और न मुझे नीचे। बस बार-बार एक ही बात दोहरा रही थी कि वह अपनी मां के साथ नहीं जाएगी। मैंने पूछा था, "क्यों नहीं जाओगी ?"

"बिकाज यू आर माई फ्रैंण्ड, आई विल गो विद यू।"

आठ महीने पहले गोपी के बगीचे में अचानक हुई छोटी-सी मुलाकात के आधार पर जो शायद सुजाता को याद भी न होगी—इसी बच्ची ने मुझे अपनी दोस्त बना लिया था। या शायद याद हो, कुछ तो आधार होगा सुजाता के इस निर्णय का।

"तुम्हारी ममी भी तो तुम्हारी दोस्त हैं।"

पर वह नहीं मानी थी। उसने मेरा हाथ अपने हाथ में कैद कर रखा था। मैंने दलील पेश की, "मैं तो तुम्हें अपने घर ले जा सकती हूं, पर मैं जानती हूं वहां पहुंच कर तुम अपनी ममी को याद करके रोने लगोगी।"

"नो ! नो ! नेवर। आई डोण्ट वाण्ट माई ममी।' टेक मी विद यू। यू आर माई फ्रैन्ड।"

यह कैसी यातना थी ? करुणा की असहाय आंखें मेरी ओर देख रही थीं। क्षमा मांगती हुई भी उसने हल्के से सुजाता को डांटा भी था, "व्हाई आर यू बियंग सो एगरेसिव ?" पर सुजाता पर कोई असर नहीं हुआ था। अपनी मौन मूक जिद बड़ी निर्भीकता से व्यक्त कर रही थी वह। उसका फैसला अन्तिम व अटल था। कौन सी शक्ति थी जो उसका फैसला बदल दे।

"आई डोण्ट वाण्ट माई ममी। टेक मी विद यू।"

जिस दृढ़ता से सुजाता ने अपनी जिद दोहराई थी उसके कारण करुणा का आहत चेहरा क्रोधित हो गया था। पर वह अपना गुस्सा पी गई थी। चोट सह गई थी वह। मैंने अपनी प्रौढ़ता का आवरण ओढ़कर

स्थिति को नजरअन्दाज करने का अभिनय करते हुए अपना चेहरा दूसरी ओर फेर लिया था। सुजाता के नन्हे-नन्हे हाथ मेरी टांगों को अपनी गिरफ्त में घेर रहे थे। मैंने स्वयं को झुठलाना चाहा—यूं ही शरारत कर रही है, बच्ची है। पर नहीं वह तो अपने लिए एक सुरक्षित जगह ढूंढ रही थी। साथ-साथ रहने का सुख तलाश रही थी। एक ऐसा घर ढूंढ रही थी, जिसमें मां-बाप दोनों हों। फिर मैंने स्वयं को समझाया। यह केवल मेरी कल्पना है, इत्ती-सी बच्ची को क्या मालूम घर क्या होता है? टूटा हुआ या फिर जुड़ा हुआ।

"अच्छा चलो, तुम मेरे साथ चलो," उसका एक पैर नीचे जाने वाली पहली सीढ़ी पर पहुंच गया था, "पर चलने से पहले एक बात बताओ?"

अब सुजाता की आंखों में सम्पूर्ण आशा झलक उठी थी। "तुम तो अपनी ममी को याद करके नहीं रोओगी। पर तुम्हारी ममी का क्या होगा? वह तो तुम्हें याद कर के बहुत रोएगी।"

"आई डोन्ट केयर।"

एकाएक स्थिति ने एक भयंकर मोड़ ले लिया था। करुणा की आंखों में आतंक छा गया था, पीड़ा भी, बेबसी भी। व्यस्त नृत्यांगना थी वह। राजधानी की नई प्रतिभा। एक नया चेहरा। नृत्य ही उसकी जिन्दगी थी, उसकी महत्त्वाकांक्षा थी। उसमें निहित उसका अहं, उसके खालीपन को भरने का माध्यम, नृत्य की गहराइयों में डूबी हुई करुणा। इस सबके बावजूद मैं जानती थी कि करुणा पूरे मनोयोग से सुजाता की देखरेख अच्छी तरह से कर रही थी। जहां कहीं भी जाती सुजाता साथ ही रहती। पर जाहिर था कि सुजाता न तो सन्तुष्ट थी न ही सुरक्षित। एक अनाम भय से ग्रस्त थी वह। शायद करुणा उसे डांटने की तैयारी कर रही थी। या फिर उसे घसीटकर अपने साथ ऊपर ले जाने के बारे में सोच रही थी। मेरे अन्दर भी अग्नि दहक रही थी। नहीं, सुजाता के लिए नहीं, उसके माता-पिता के लिए। क्यों शादी करते हैं लोग? अगर करते हैं तो क्यों नहीं निभा पाते? कितने संशोधन किए गए हैं संविधान में। नये कानून बनाए गए हैं। क्यों नहीं किसी को सूझा कि कोई ऐसा कानून बनाया जाए कि अगर शादी कर ही ली है और अगर बच्चे पैदा

किए हैं तो कानूनन वह शादी तोड़ी नहीं जा सकती। क्या दोष है बच्चों का ? दो समझदार पढ़े-लिखे संभ्रांत व्यक्तियों को किसने अधिकार दिया है कि एक नन्ही-सी कली को तूफानों के थपेड़े सहने के लिए बगीचे में असुरक्षित छोड़ दिया जाए ? पर इस समय मैं क्या करूं ? एक विचार बिजली की तरह मेरे दिमाग में कौंधा था।

"अच्छा सुजाता, मेरी एक बात और सुन लो। तुम्हारी मम्मी को तो ऊपर जाना है, उसे किसी को जरूरी मिलना है, है न ?" सुजाता ने सिर हिलाया था और साथ ही दूसरा पैर भी नीचे जाने वाली सीढ़ी पर रख दिया था। "और मुझे जाना है रेडियो स्टेशन के अन्दर। वह सामने देखो, हां, नीचे देखो, वह सिपाही खड़ा है न, दीख रहा है न तुम्हें, बन्दूक है उसके हाथ में। जब मैं और तुम वहां पहुंचेंगे न, तो वह मुझे तो अन्दर जाने देगा क्योंकि मेरे थैले में अन्दर जाने का पास है। पर तुम्हें वह वहीं रोक लेगा।"

सुजाता ने मेरी बात समझने की कोशिश में मेरी आंखों में झांका था।

"और जानती हो फिर क्या होगा ? तुम्हारे पास न मम्मी रहेगी और न ही दोस्त।" मेरी आखिरी दलील कितनी भयावह थी, कितनी क्रूर थी, इसका अहसास मुझे तब हुआ जब सुजाता मेरा हाथ छोड़कर धनुष से छूटे बाण की तरह ऊपर जाने वाली सीढ़ियां चढ़ गई। उसने एक बार मुड़कर यह भी देखना जरूरी नहीं समझा कि उसकी मां उसके पीछे-पीछे आ रही है या नहीं।

और मैं अकेली रेलिंग के सहारे देर तक खड़ी रही, निश्चल, जड़वत, स्थिर वायु की तरह अपनी हथेली में सुजाता की हथेली को महसूस करती हुई, स्वयं को धिक्कारती हुई।

सही फैसला

—मम्मी यह कौन-सी किताब है ?

—बच्ची, बड़ो की है।

—नाम बताओ।

—द डे इन डॉडो।

—इसका मतलब ?

—मतलब यही है, द डे इन डॉडो। तुम्हे इतनी अंग्रेजी आती है कि मतलब समझ लो।

मैंने पढने की बेकार कोशिश की। मैं जानती हूं। वह मन-ही-मन क्या सोच रहा है। यही न कि ममी ने मुझे मतलब नही समझाया है। वह हमेशा ऐसे ही करती है। अच्छा, मैं भी देख लूंगा। इतना सोचते-सोचते उसकी आखो में पानी डबडबाने लगा था। यह खतरे की निशानी थी। पक्का अभिनेता जो ठहरा। जानता है कि अभी रोना जरूरी नही है, रोनी सूरत से काम चलाया जा सकता है।

किताब की काली सादी जिल्द, सुनहरे अक्षरो मे लिखा लेखिका और किताब का चमकता हुआ नाम। यू ही मन मे हैरानी और आदर का भाव आ जाता है।

एक बार मैं बगलोर से दिल्ली जा रही थी। ऐन रेण्ड की 'फाउटेन हैड' के सात सौ पृष्ठ केवल मैंने तीन दिन के सफर मे पढ़ी थी। साथ बैठे यात्रियों में से तीन दिन मुझ मे कोई न बोला था। भारतीय व्यवहार के कितने विपरीत था यह ! एक यात्री ने भयभीत स्वर मे मुझ से पूछा था—'आप ला स्टूडेंट है या मेडिकल ?' उसे आगरा ही उतर जाना था। और

अगर वह मुझ से यह सवाल न पूछता तो न जाने कब तक उसका मन अशांत रहता।

मैंने मन-ही-मन हंस दिया था। तीन, चौदह-पन्द्रह साल के बच्चों की मां किसी भी चीज की स्टूडेंट कैसे हो सकती है। मैंने हैरानी से उसे देखा। वह कुछ घबरा गया था— आपकी किताब···

—ओह, यह तो एक उपन्यास है .

—इतना मोटा···कुछ सम्मान मिश्रित स्वर में वह कुछ कहता गया था। और अब गप्पू भी मुझे वैसे ही कुछ-कुछ कह रहा था—अपनी आंखों से। ऐसा पहले कई बार हो चुका है। इसे अपनी समझ पर बड़ा नाज है। हर नाटक, हर फिल्म को यह बहुत गौर से देखता और सुनता है। फिर अनजाने ही किसी समालोचक की तरह उसकी चीरफाड़ भी करता है। कभी-कभी मैं कहती हूं—गप्पू तू कितना बड़ा हो गया है।

—कहां ममी, आठ साल में मैं आठ साल का ही तो हुआ हूं। जब कभी वयस्कों के लिए नाटक अथवा फिलम प्रदर्शित होती है तो वह हमारे साथ नहीं जा पाता। घर पर अगर उसने 'कारोशी' जैसी बढ़िया फिल्म देखी होती है तो हमें वह उत्तेजित होकर कहानी सुनाता है। पर टेलीविजन पर हर रोज 'कारोशी' जैसी फिल्में नहीं दिखाई जातीं। अक्सर उसकी जिद्द होती।— मुझे कहानी सुनाओ।

—बच्चे, अगर कहानी तुम्हारे मतलब की होती तो तुम्हें हम साथ ही ले जाते। यही उत्तर मैं सदा देती !

—ममी प्लीज ! टेल मी द आउट लाइन ओनली।

—अच्छा सुन। एक ममी है स्मृति और एक डैडी है सोम। दोनों का झगड़ा हो जाता है। ममी अपने बच्चों और किताबों को लेकर दूसरे घर में चली जाती है।

गप्पू ध्यान से सुन रहा है। यह बात तो एकदम उसकी जानी-पहचानी है। वह कितनी बार इस खतरे से गुजर चुका है। जब हम आपस में टकराते हैं तो कहीं न कहीं हजारों बार उसने यह शब्द सुने हैं। आल राइट ! गो अहैड, डिवोर्स मी! कैन यू डू इट ? हर विस्फोट इसी बिंदु पर आ कर बिखर जाता है। बाकी रह जाती है राख। जब मैं पांच साल की

थी तो किसी ने मेरी हस्तरेखाएं देखकर कहा था, इसका डाइवोर्स होगा ! शायद तभी मैंने मन-ही-मन फैसला कर लिया होगा : मैं ऐसा कभी न होने दूंगी। शायद तीस बरस पहले किया फैसला कहीं न कहीं मेरे मन मे छिपा बैठा है। यह कैसा इंद्रजाल है ! कैसा वशीकरण है ! सात साल की मनोरम कोर्टशिप के बाद अपनी ही इच्छा से किया गया प्रणय-विवाह ! और विवाहित जीवन के पहले ही वर्ष मे घर से निकाले जाने की धमकी। हर बार यही सोचना : अब ऐसा कभी न होगा।

—ममी, हां, हां, बोलो न, आगे क्या हुआ ? यह बेताबी मे पूछ रहा है। मन-ही-मन क्या सोच रहा है, मैं जानती हूं। यही न, कितने धीरे-धीरे कहानी सुनाती है।

इस बच्चे के लिए क्या एक ही बचपन काफी होगा ? शायद नही ! खाना-पीना, सोना, पढना-नहाना सब बेकार के काम हैं। हां, कहानी सुनने के लिए वह अपना खेल कुछ देर के लिए स्थगित कर सकता है। बस।

—अब स्मृति दूसरे घर मे रहने लगी है। पर उसे अकेले रहना नही आता है। लोग उससे यह नही पूछते कि वह क्या करती है। वह पूछते हैं, तुम्हारा पति क्या करता है ? जब वह उन्हें कहती है कि उसने अपने पति को छोड दिया है तो औरतें उससे बात ही नही करती हैं।

—क्यो नही ?

—बस यू ही। वह समझती हैं कि स्मृति अच्छी औरत नही है।

—अच्छा-अच्छा आगे बोलो न।

—हां ! शायद यही सब से बड़ी उलझन है। लोग क्या कहेंगे ? यही न कि प्रेमिका से वह डिवोर्सी बन गयी है। एक और प्रेम कथा का अंत हो गया है।

हमारे यहां बार-बार प्रलय क्यो आती है ? हर बार मैं थोड़ी और आहत होकर फैसला कर लेती हूं - ठीक है रोज-रोज मरने से अच्छा है कि एक ही बार मर जाओ। चलो मुझे आपकी बात मंजूर है। पर चूंकि तलाक आपको चाहिए, इस शुभ काम का संपादन भी आप ही करेंगे। शादी करने आप आए थे, मैं नही। अब... यहां पहुचते-पहुचते मेरा सिस-

सही फैसला /

कना शुरू हो जाता है। यही बिंदु है जो मेरे लिए कभी न सुलझने वाला कठिन प्रश्न बन जाता है।

—ममी, आगे बोलो न। गप्पू अब बेहद नाराज है।

—बस, आगे क्या ? वह लोग नये घर में रहने लगते हैं। उसका बड़ा बेटा बृज एक दिन अपने डैडी से मिलने जाता है।

—क्यों ? वह तो डैडी को छोड़ आए हैं।

—डैडी ने बृज से कहा था कि जब जी चाहे मिलने आ जाना। वह साइकल पर चढ़कर चला जाता है।

गप्पू की आंखों में एक चमक-सी आ गयी है।

—लकी बम्म ! तुम मुझे साइकल पर कहीं नहीं जाने देतीं।

—वह बहुत बड़ा है। तुम तो नन्हे-से बच्चे हो ! और फिर तुम्हारे डैडी तो यहीं हैं। अच्छा, बस ! मैंने इतनी ही कहानी पढ़ी है। भागो-भागो।

वह बौखलाकर सचमुच ही भाग जाता है।

—पैस्ट।

× × ×

आगे किताब पढ़ने का क्या फायदा ? अपने जीवन का सबसे बड़ा कदम तो स्मृति ने उठा लिया है। कितनी साहसी होगी वह। और शायद कितनी दुखी भी। उसका भी तो प्रेम-विवाह था। इस प्रणाली का आविष्कार शायद केवल सुख-शांति को खत्म करने के लिए ही किया गया होगा। पर इस पाखंड को पवित्र रूप क्यों दिया गया ? हम दोनों के बीच एक निश्चित दूरी है। लेकिन फिर भी हम अभिन्न हैं, एक स्थायी इकाई की तरह।

किसी कारणवश किया गया मर्यादा का उल्लंघन मैं सह सकती हूं पर अक्सर बिना कारण ही मुझे अपमानित होना पड़ता है। हर बार कितना मैल भर जाता है। ठीक दिन है, पर दिन फैलते इस ज्वालामुखी से मैं अपने बच्चों को बचा सकती हूं। इस फफोले को अब फूट जाना चाहिए। अगर स्मृति में इतना साहस है तो मुझ में क्यों नहीं ? इस असह्य पीड़ा से बचने का यही एक तरीका है।

—गप्पू सुन, एक बात पूछनी है। तू मुझे ज्यादा प्यार करता है या डैडी को ? कैसा बेकार-सा प्रश्न है। उत्तर मैं जानती हूं।

—दोनों को।

—नहीं बच्चे, मान लो मम्मी, दीदी और भैया दूसरे घर में रहने लगें तो तुम कहां रहोगे ?

इस निर्दोष बच्चे को इस टूटने से कैसे बचाऊं ? उसे हमारा झगड़ना बिल्कुल पसंद नहीं है। वह अक्सर मुझे सलाह देता रहता है, मम्मी इग्नोर हिम। ही कान्ट फाइट एलोन।

सलाह बेहद दोषरहित है पर मैं हर बार बिसर जाती हूं। हर बार सोचती हूं, शायद यही हमारा आखिरी झगड़ा है, हर बार मैं ही दोषी साबित होती हूं। मुझे स्वयं विश्वास हो जाता है कि मैं इस प्रहार को रोक सकती थी। और फिर बाद में, बहुत बाद में, जब मुझे लगता है कि मेरा कोई भी अस्तित्व नहीं है, तो मेरी झोली अनुराग से भर दी जाती है। और बार-बार मैं छली जाती हूं। इतने अनुष्ठान से की गई आराधना सूरज की पहली किरण के साथ ही कोई कैसे भुला सकता है ? हर बार तिल-तिल टूटने से अच्छा है कि एक बार ही टूट जाओ।

× × ×

—हे माम, वह किताब पढ़ ली ?

—हां, यू नो बाबा, आइ रेड टिल थ्री इन द नाइट।

—ओह नो माम ! अच्छा चलो, बाकी की कहानी सुनाओ।

—बस होना क्या था। अपने डैडी से गप लगाकर वह अपने घर आ गया।

—बस ?

—उसका डैडी बहुत अमीर था। वह उसे बहुत से पैसे देता है और कहता है कि अगर वह स्कूल में फर्स्ट आएगा तो उसे अमरीका भेज दिया जाएगा। बूज बहुत खुश होता है। पर मन-ही-मन चिढ़ता भी है क्योंकि उसका डैडी हर अच्छी बात के साथ एक शर्त लगा देता है। हर बात में अगर-मगर करता है।

कना शुरू हो जाता है। यही बिंदु है जो मेरे लिए कभी न सुलझने वाला कठिन प्रश्न बन जाता है।

—ममी, आगे बोलो न। गप्पू अब बेहद नाराज है।

—बस, आगे क्या? वह लोग नये घर में रहने लगते हैं। उसका बड़ा बेटा वृज एक दिन अपने डैडी से मिलने जाता है।

—क्यों? वह तो डैडी को छोड़ आए हैं।

—डैडी ने वृज से कहा था कि जब जी चाहे मिलने आ जाना। वह साइकल पर चढ़कर चला जाता है।

गप्पू की आंखों में एक चमक-सी आ गयी है।

—लक्की बम्म! तुम मुझे साइकल पर कहीं नहीं जाने देतीं।

—वह बहुत बड़ा है। तुम तो नन्हे-से बच्चे हो! और फिर तुम्हारे डैडी तो यहीं हैं। अच्छा, बस! मैंने इतनी ही कहानी पढ़ी है। भागो-भागो।

वह बौखलाकर सचमुच ही भाग जाता है।

—पैस्ट।

× × ×

आगे किताब पढ़ने का क्या फायदा? अपने जीवन का सबसे बड़ा कदम तो स्मृति ने उठा लिया है। कितनी साहसी होगी वह। और शायद कितनी दुखी भी। उसका भी तो प्रेम-विवाह था। इस प्रणाली का आविष्कार शायद केवल सुख-शांति को खत्म करने के लिए ही किया गया होगा। पर इस पाखंड को पवित्र रूप क्यों दिया गया? हम दोनों के बीच एक निश्चित दूरी है। लेकिन फिर भी हम अभिन्न हैं, एक स्थायी इकाई की तरह।

किसी कारणवश किया गया मर्यादा का उल्लंघन मैं सह सकती हूं पर अक्सर बिना कारण ही मुझे अपमानित होना पड़ता है। हर बार कितना मैल भर जाता है। ठीक दिन है, पर दिन फैलते इस ज्वालामुखी से मैं अपने बच्चों को बचा सकती हूं। इस फफोले को अब फूट जाना चाहिए। अगर स्मृति में इतना साहस है तो मुझ में क्यों नहीं? इस असह्य पीड़ा से बचने का यही एक तरीका है।

—गप्पू सुन, एक बात पूछनी है। तू मुझे ज्यादा प्यार करता है या डैडी को ? कैसा बेकार-सा प्रश्न है। उत्तर मैं जानती हूं।

—दोनों को।

—नहीं बच्चे, मान लो मम्मी, दीदी और भैया दूसरे घर में रहने लगें तो तुम कहां रहोगे ?

इस निर्दोष बच्चे को इस टूटने से कैसे बचाऊं ? उसे हमारा झगड़ना बिल्कुल पसंद नहीं है। वह अक्सर मुझे सलाह देता रहता है, मम्मी इग्नोर हिम। हो कान्ट फाइट एलोन।

सलाह बेहद दोषरहित है पर मैं हर बार बिखर जाती हूं। हर बार सोचती हूं, शायद यही हमारा आखिरी झगड़ा है, हर बार मैं ही दोषी साबित होती हूं। मुझे स्वयं विश्वास हो जाता है कि मैं इस प्रहार को रोक सकती थी। और फिर बाद में, बहुत बाद में, जब मुझे लगता है कि मेरा कोई भी अस्तित्व नहीं है, तो मेरी झोली अनुराग से भर दी जाती है। और बार-बार मैं छली जाती हूं। इतने अनुष्ठान में की गई आराधना सूरज की पहली किरण के साथ ही कोई कैसे भुला सकता है ? हर बार तिल-तिल टूटने से अच्छा है कि एक बार ही टूट जाओ।

× × ×

—हे माम, वह किताब पढ़ ली ?

—हां, यू नो बाबा, आइ रेड टिल थ्री इन द नाइट।

—ओह नो माम ! अच्छा चलो, बाकी की कहानी सुनाओ।

—बस होना क्या था। अपने डैडी से गप लगाकर वह अपने घर आ गया।

—बस ?

—उसका डैडी बहुत अमीर था। वह उसे बहुत से पैसे देता है और कहता है कि अगर वह स्कूल में फर्स्ट आएगा तो उसे अमरीका भेज दिया जाएगा। वह बहुत खुश होता है। पर मन-ही-मन चिढ़ता भी है क्योंकि उसका डैडी हर अच्छी बात के साथ एक शर्त लगा देता है। हर बात में अगर-मगर करता है।

—सब डैडी करते हैं। चलो जल्दी करो। आगे बोलो !

—ओफ्फ मम्मी ! मुझे खेलना भी तो है।

—उफ ! तुम या तो कहानी सुन लो या फिर गाड़ी पकड़ लो। नालायक, इसका टाइम सबसे कीमती है। हम सब बेवकूफ हैं, जो दिन-भर इसके आगे-पीछे घूमते हैं।

—फिर क्या हुआ ?

—एक दिन वृज अपनी ममी से कहता है कि वह डैडी के घर रहने जा रहा है। थोड़ी देर में कार आ जाती है। वृज बहुत जल्दी में है। उसे डैडी से बहुत बातें करनी हैं। वह ममी को कहता है मेरा सामान बांध कर तैयार रखना। बाद में मंगवा लूंगा।

—बस ! आगे बोलो।

—बस, वह चला जाता है और कहानी खत्म हो जाती है।

—झूठ ? तुम बताना नहीं चाहती हो।

—बच्चे जान, तुम अंग्रेजी पढ़ लेते हो।

—हां।

—तो लो, यह आखिरी पृष्ठ पढ़ लो।

वह धीरे से पढ़ रहा है। उसके चेहरे पर आए भाव साफ बता रहे हैं कि वृज का फैसला, सही फैसला था। मन-ही-मन मैं भी समझ गई हूं। डैडी के बिना न गप्पू जी पायेगा, न मैं। गप्पू को खोने से, अच्छा है, मैं खुद को ही खोने दूं।

रिहाई

"येस पदमा ?"

मुझे एकाएक लगा कि मैंने फिर कोई गलती कर ली है। मैं हमेशा गलत काम ही करती हूं। यह भी मेरी एक विशेषता है।

डा० मिश्रा के प्रश्न का उत्तर मैंने नहीं दिया। मेरे पीछे-पीछे एक आदमी अन्दर आ गया था। बड़ी बेबस तरसी हुई आवाज़ में कह रहा था—"वह नहाती नहीं, कपड़े नहीं बदलती—कुछ भी काम नहीं करती।" आदमी पचास से ऊपर था। इसने अपनी पत्नी के साथ कैसा व्यवहार किया होगा कि वह इतनी जड़ हो गई है ? अब क्यों यह उसका इलाज करवाना चाहता है ? मन हुआ डाक्टर की जगह मैं ही उत्तर दे दूं "तो खुद काम कर लिया करो। उसके कपड़े भी बदल दिया करो। शायद वह सभल जाए" या फिर "उसे तुम अब ऐसे ही रहने दो। अन्त में हर इन्सान जड़ हो जाता है, जम जाता है, टूट जाता है। तुम उसे क्योंकर बदलना चाहते हो। बदलना ही है तो इस सड़ी-गली परम्परा को बदलो, जिसे हमारे पूर्वज विवाह जैसा पाखंडी नाम दे गए हैं। और काम तुम खुद क्यों नहीं कर लेते हो ?"

पर न तो मैं डाक्टर थी, न वह मुझसे बात ही कर रहा था। मुझे बेहद गुस्सा आया, उस आदमी पर, डाक्टर पर और खुद पर भी। आदमी पर इसलिए कि जो पीड़ा वह औरत सह रही है, उसकी जिम्मेदारी पूरी तरह से उस आदमी पर है। अपने पर इसलिए कि मैं फिर एक महीने के अन्तराल के बाद फिर से इस मनोविकार विभाग में क्यों आ गई हूं ? डाक्टर पर इसलिए कि वह अपनी आवाज़ में इतनी सहजता

—सब डैडी करते हैं। चलो जल्दी करो। आगे बोलो!

—ओफ्फ मम्मी! मुझे खेलना भी तो है।

—उफ! तुम या तो कहानी सुन लो या फिर गाड़ी पकड़ लो।

नालायक, इसका टाइम सबसे कीमती है। हम सब बेवकूफ हैं, जो दिन-भर इसके आगे-पीछे घूमते हैं।

—फिर क्या हुआ?

—एक दिन बृज अपनी ममी से कहता है कि वह डैडी के घर रहने जा रहा है। थोड़ी देर में कार आ जाती है। बृज बहुत जल्दी में है। उसे डैडी से बहुत बातें करनी हैं। वह ममी को कहता है मेरा सामान बांध कर तैयार रखना। बाद में मंगवा लूंगा।

—बस! आगे बोलो।

—बस, वह चला जाता है और कहानी खत्म हो जाती है।

—झूठ? तुम बताना नहीं चाहती हो।

—बच्चे जान, तुम अंग्रेजी पढ़ लेते हो।

—हां।

—तो लो, यह आखिरी पृष्ठ पढ़ लो।

वह धीरे से पढ़ रहा है। उसके चेहरे पर आए भाव साफ बता रहे हैं कि बृज का फैसला, सही फैसला था। मन-ही-मन मैं भी समझ गई हूं। डैडी के बिना न गप्पू जी पायेगा, न मैं। गप्पू को खोने से, अच्छा है, मैं खुद को ही खोने दूं।

रिहाई

"येस पदमा ?"

मुझे एकाएक लगा कि मैंने फिर कोई गलती कर ली है। मैं हमेशा गलत काम ही करती हू । यह भी मेरी एक विशेषता है।

डा० मिश्रा के प्रश्न का उत्तर मैंने नही दिया। मेरे पीछे-पीछे एक आदमी अन्दर आ गया था। बड़ी बेबस तरसी हुई आवाज मे कह रहा था—"वह नहाती नही, कपड़े नही बदलती—कुछ भी काम नही करती।" आदमी पचास से ऊपर था। इसने अपनी पत्नी के साथ कैसा व्यवहार किया होगा कि वह इतनी जड हो गई है ? अब क्यो यह उसका इलाज करवाना चाहता है ? मन हुआ डाक्टर की जगह मैं ही उत्तर दे दू "तो खुद काम कर लिया करो। उसके कपडे भी बदल दिया करो। शायद वह सभल जाए" या फिर "उसे तुम अब ऐसे ही रहने दो। अन्त मे हर इन्सान जड हो जाता है, जम जाता है, टूट जाता है। तुम उसे क्योंकर बदलना चाहते हो। बदलना ही है तो इस सडी-गली परम्परा को बदलो, जिसे हमारे पूर्वज विवाह जैसा पाखडी नाम दे गए है। और काम तुम खुद क्यो नही कर लेते हो ?"

पर न तो मैं डाक्टर थी, न वह मुझसे बात ही कर रहा था। मुझे बेहद गुस्सा आया, उस आदमी पर, डाक्टर पर और खुद पर भी। आदमी पर इसलिए कि जो पीडा वह औरत सह रही है, उसकी जिम्मेदारी पूरी तरह से उस आदमी पर है। अपने पर इसलिए कि मैं फिर एक महीने के अन्तराल के बाद फिर से इस मनोविकार विभाग मे क्यो आ गई हूं ? डाक्टर पर इसलिए कि वह अपनी आवाज मे इतनी सहजता

कैसे भर लेता है ? कल रात जब मैंने फोन पर कहा था कि डाक्टर साहब मैं आपको मिलनी चाहती हूं तो उन्होंने कहा था 'ओ० के०' समय मैं निश्चित नहीं कर पा रही थी। अनिश्चितता की स्थिति में थी। तय हुआ था कि मैं या तो एक से पहले या फिर दो बजे के बाद अस्पताल पहुंच जाऊंगी; फिर उत्तर आया था :

"ओ० के०।"

दो अक्षर! पर ढेरों सहजता से भरे हुए, लदे हुए। मैं कितनी पीड़ा-ग्रस्त हूं यह डाक्टर मित्रा भलीभांति जानते हैं। फिर अपनी आवाज़ में इतनी सहजता कैसे और क्यों भर लेते हैं ? क्यों नहीं मेरी तरह विचलित हो उठते ? और अब एक अजनबी के सामने मुझसे पूछ रहे हैं :

"येस पदमा ?"

मैंने चुपचाप अपनी हथेलियों में अपना मुंह छिपा लिया था। उस आदमी से निपटने के बाद फिर वही दो अक्षर डाक्टर मित्रा ने कहे थे; मुंह से नहीं आंखों से।

"डाक्टर साहब···कुछ समझ में नहीं आता कि क्या करूं ? और क्या बताऊं आपको ? सिर्फ इतना जानती हूं कि मैं आपकी मदद चाहती हूं। मैं अपने पति के साथ अब नहीं रह सकती हूं। अब और यातना मैं नहीं सह सकती। वह मुझे, मेरे बच्चों को, धीरे-धीरे बड़े सलीके से ढाह रहे हैं, नष्ट कर रहे हैं और अगर नष्ट ही होना है तो मैं अलग रहकर नष्ट होना ज्यादा पसन्द करूंगी।"

मैं अगर चाहती तो बोलती ही चली जाती। डाक्टर मित्रा मुझे कभी न टोकते। हां वे मुझे बराबर निहार रहे थे, मुझे टोह रहे थे। ज्यादा कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं थी। पिछले चार महीने से हम लोग नियमित रूप से सप्ताह में दो बार मिल रहे थे। मैं, मेरे पति, मनोविज्ञान के डाक्टर मित्रा और मानस शास्त्रज्ञा डाक्टर मिस दवे। अपना कोई भी आवरण ऐसा न था जो मैंने इस कमरे में उतार न फेंका था, कोई भी भेद ऐसा न था जो उनसे छुपा था।

दोनों डाक्टर मेरे कुछ भी नहीं लगते पर दोनों की सहानुभूति से भरपूर आंखें मुझे हमेशा शक्ति देती हैं। मुझे ऐसा लगता है कि मैं निपट

अकेली बेसहारा खड़ी हूं और मैं जैसे ही गिरने लगूंगी यह दोनों मुझे संभाल लेंगे। एक आशा की बारीक-सी किरण जो केवल इन दोनों को ही नज़र आती है शायद कभी भूले से मुझे भी छू जाए।

इलाज की शुरुआत में एक सवाल पूछा गया था, "क्या तुम दोनों साथ रहना चाहते हो ?"

हमारा दोनों का उत्तर एक ही था, "हां।"

इसी समझौते की नींव पर छानबीन की शुरुआत हुई थी कि क्यों हम दोनों के बीच इतने भयानक विस्फोट होते हैं ?

एक समझौता और भी हुआ था।

"अगर कभी यह फैसला बदला तो वह फैसला इस कमरे में बदला जाएगा।"

यह कोई कचहरी तो है नहीं, मान लो मैं डाक्टरों की सलाह लिए बिना ही घर छोड़कर चली जाती हूं तो यह लोग मेरे पीछे-पीछे वारन्ट लेकर तो आने से रहे। बस मेरी वेदना को समझकर, महसूस-भर करके इन दोनों ने मुझे बांध लिया था। या शायद यह मुझे एकाएक मसीहा-से नज़र आने लगे हैं जो कोई-न-कोई हल ज़रूर निकाल लेंगे। या शायद मैं इतनी अकेली हूं कि मुझे यह अपने से दीखने लगे हैं जो शायद किसी तरह मेरा अकेलापन तोड़ डालेंगे।

"तुम अपना फैसला अगले शुक्रवार तक स्थगित कर दो।"

"नहीं ! जिस आदमी ने मुझे एक महीने का नोटिस दिया है, उसे मैंने एक मिनट का नोटिस दे दिया है। मैं एक पल भी उस घर में नहीं रह सकती हूं। रहना भी नहीं चाहती हूं।

वैसे इस तरह के नोटिस मुझे पिछले पच्चीस सालों से मिल रहे हैं, बेमायनी, बेवजह धमकियां और अपमान सुनती और सहती आ रही हूं। हर युद्ध के बाद समझौता हो जाता और मैं मन से विश्वास कर लेती थी कि अब कभी इस घर में महाभारत नहीं होगा। अब कभी लावा नहीं फटेगा। पर हर बार मैं छली गई हूं और अब मैं एक पल भी रुकने के लिए तैयार नहीं हूं।" मैं बेहद उत्तेजित थी और मन-ही-मन बेतहाशा भयभीत भी ! एकदम क्षोभ रहित वाक्य फिर मेरे कानों से टकराया।

"शुक्रवार तक रुक जाओ। डाक्टर दवे छुट्टी से लौट आएंगी, उसी दिन बात करेंगे। और तुम सात दिन तक यह दवाई खाओ।" एक हल्के हरे रंग का कागज मेरी ओर सरकाते हुए डाक्टर मित्रा बोले, "एक गोली सुवह, एक शाम।"

मेरा मन अन्दर-ही-अन्दर चीख उठा। यह गोलियां मुझे शान्त नहीं कर सकती हैं। मैं पहले भी यह बात यहां कह चुकी हूं। बार-बार यह लोग मेरी बात सुनते क्यों नहीं ?

"मुझे नहीं चाहिए यह शान्तिदायक गोलियां। मैं इन्हें एक साथ निगल जाऊंगी और हमेशा के लिए सो जाऊंगी। पर मैं तो जीना चाहती हूं एक भरपूर जिन्दगी। पिछले पच्चीस सालों से मेरी केवल एक ही मांग है, एक ही इच्छा है। मैं सिर्फ शान्त जीवन चाहती हूं। मुझे केवल एक ही चीज़ की तलाश है और वह ही मुझे नहीं मिली।"

पर आज मैंने यह शब्द नहीं दोहराए। ज़रूरत ही नहीं महसूस हुई। इसलिए मैंने चुपचाप उस हल्के हरे रंग के कागज़ को अपने पर्स में रख लिया। क्या बुरा है ? वैसे भी तो मैं एक झूठी जिन्दगी जी रही हूं। अगर शांति भी झूठे माध्यम से मिल जाए तो क्या बुरा है ?

रूसी कवि याकोव पैट्राविच पोलोस्की ने ओका नदी के किनारे एक मठ के पास अपनी कब्र के लिए जगह पसन्द की थी। हर कोई सोचता कि उसकी आत्मा उसी की समाधि के आसपास मंडराती है और वह मर-कर भी वहीं कहीं सुन्दर वादियों को निहार रहा है। अब वह मठ वहां नहीं है और उस प्राचीन राज्य पर उन राक्षसों का राज्य है जिन्हें वाचटावर के नाम से पुकारा जाता है। वहां कुछ वर्ष पहले खुदाई की गई थी। नक्शे के अनुसार पोलोस्की की कब्र वहां मिलनी चाहिए थी। पर वह मिली नहीं। यह राक्षस नहीं जानते कि पोलोस्की बाह्य रेखा के अन्दर है। अब उस तक कोई नहीं पहुंच सकता है। क्योंकि बहुत पहले ही पोलोस्की की कब्र को खोदकर उसके शरीर को राईजान पहुंचा दिया गया था, उसने अपना समय पूरा कर दिया था...उसे अब छोड़ दिया गया था...

पोलोस्की की कहानी बेहद लम्बी व गहरे दुःख से भरी है। पर वह कितना खुशकिस्मत था, वह जीते जी तो इन दुष्टों से बच न सका पर

अब उसके अवशेषों को रिहा कर दिया गया था।

पर मेरे अवशेषों का क्या होगा? मुझे रिहाई कब मिलेगी?

"शुक्रवार को तुम बारह बजे आना।"

"अकेली आऊं?"

"नहीं। अगर हो सके तो अपने पति को भी साथ लाना।" यही डाक्टर मिश्रा का आखिरी फैसला था।

जिस बीमारी की जड़ तक मैं पहुंच चुकी हूं वहां पहुंचने में इस मनोवैज्ञानिक और मानस शास्त्रज्ञ को इतना समय क्यों लग रहा है? क्यों इतने लोग मनोविकार विभाग में आते हैं। अपना ही विकार ढूंढना कितना आसान होता है। मेरे विचार में इन मनोवैज्ञानिकों को चाहिए कि वह हमसे मदद लें, खासकर कलाकारों और लेखकों से। मुझे क्या मिला यहां आने से? एक हलके हरे रंग का कागज जिस पर किसी शांतिदायक गोली का नाम लिखा है। कितने दिन जीवित रह सकता है इन्सान? जीवित रहने की इच्छा कितनी अनावश्यक, क्षणिक, पर फिर भी कितनी अद्‌भुत होती है। शायद इसी इच्छा पूर्ति के लिए मैं बार-बार डाक्टर मिश्रा व डाक्टर दवे की आंखों में झांकती रहती हूं।

एक बात अब मैं भलीभांति समझ गई हूं—रिहाई अब न मुझे मिलेगी, न मेरे अवशेषों को, मुझे इसी तरह भटकते रहना होगा, इसी तरह, चाहे मैं आगामी शुक्रवार यहां आऊं, चाहे न आऊं।

प्रलय

"जब कोई चीज़ गल-सड़ जाती है तो उसे उठाकर बाहर फेंक देना चाहिए। घर में रखने से बू फैलती है। बीमारी फैलती है।" अपने विचार में किसी-न-किसी तरह डाक्टर मिश्रा तक पहुंचना चाहती थी, पर उनकी आंखों में असहमति भरी हुई थी। क्योंकि इन्हीं आंखों में मैं पहले सहानुभूति और संवेदना भी देख चुकी हूं इसलिए असहमति को मैंने जान-बूझकर नजरअंदाज कर दिया। मन-ही-मन खीझ भी उठी। क्योंकि इतनी सीधी-सी बात मनोवैज्ञानिक के दिमाग में घुस नहीं रही है। क्यों मुझे बार-बार समझाया जा रहा है, बहकाया जा रहा है। "इस स्थिति से क्यों भाग रही हो तुम ?" बताया न आपको, मैं अब कुछ भी नहीं सह सकती—न आवाज़ की क्रूरता, न आंखों में भरा गुस्सा, न एक पल की अवहेलना, न बेमानी बेसिर-पैर की बातें—कितना समय नष्ट होता है। और मुझे बहुत कुछ करना है···'किसके लिए ?' ठीक ही सवाल पूछा गया था। अक्सर जब कोई पत्नी अपने पति को त्यागती है तो कोई-न-कोई दूसरा पुरुष उसके पीछे होता है, कोई-न-कोई ठोस सहारा ज़रूर होता है। डाक्टर भलीभांति जानते हैं। मेरे पीछे कोई ऐसा सहारा नहीं है इसलिए मुझसे असहमत हैं। फिर यह सवाल मुझे झकझोरने के लिए किया गया है और मैं बहुत ही पतली टहनी पर बैठी हूं। एक नए कोमल पत्ते की तरह जो समय आने पर गिरेगा ज़रूर।

"अपने बच्चों के लिए। मेरे साथ-साथ वह भी तो पीड़ित हैं। कोई भी मां अपने बच्चों की पीड़ा नहीं सह सकती। और अगर मैं ऐसा भयानक कदम उठा रही हूं तो जरूर मैं बेहद पीड़ित हूं। इनके साथ रहकर तो मैं

पागल हो जाऊंगी। और···और···अलग रहकर तो मैं निश्चित रूप से पागल हो जाऊंगी।"

'ठहरो' हाथ ऊपर उठाकर डाक्टर देव ने मुझे टोका। 'आगे कुछ मत कहो। अगर यह तुम खुद ही जानती हो कि ऐसा क्यों कर रही हो। 'अपने बच्चों के लिए' बच्चे मासूम, कोमल हृदय वाले बच्चे, कलात्मक मन.स्थिति वाले बच्चे, सुन्दरता की खोज में परेशान दिशाहीन हो गए हैं। उन्हें नहीं मालूम किस ओर जाना है और क्यों जाना है? पर बड़ा बेटा कहता है: 'मालव'; हां वह मुझे इसी प्यारे-से नाम से पुकारता है और उस प्यार में थोड़ी-सी मात्रा दया की भी होती है। 'मालव, अब तुम जो भी कदम उठाओ, सोच समझकर उठाना। एक बार तुम घर छोड़कर लौट आई हो। अब तक सब तुम्हारे साथ हैं, तुम्हारे पीछे खड़े हैं। मगर इस बार अगर तुमने फिर वैसी ही जल्दबाज़ी की तो सब सोचेंगे यह तो रोज का ही किस्सा है। कोई साथ नहीं देगा।"

'बेटा, कल रात जो हुआ उसके बाद भी तुम यही सलाह देते हो? कल रात जो हुआ वह एक पागलपन था। कोई सामान्य औरत होती तो जहर खा लेती। पर मैं सामान्य नहीं हूं और फिर एक बात और कि मैं जीना चाहती हूं। पूरी तरह जीना चाहती हूं। सबको कुचलकर मैं जीना चाहती हूं। जीवित रहने के लिए मेरी मांग सीधी-सादी है।

कितनी शान्ति से बीती थी हमारी शाम। वैसे तो हमारी हर शाम शान्ति से ही बीतती है। पर कभी-कभी क्यों अवसर छोटी-सी, निकम्मी-सी बात पर झगड़ा शुरू हो जाता है। टेलीविज़न पर फिल्म खत्म हुई तो परदे पर समाप्त शब्द आया। मैंने गप्पू की बांह पकड़ी बड़े लाड़-दुलार से। आंखों-ही-आंखों में इशारे हुए और हम दोनों भागते हुए ऊपर चले गए। चवालीस वर्षीय मां दस साल के बच्चे के साथ दोस्ताना अन्दाज में व्यवहार करे तो बच्चे को कितना भला लगता है। पौने दस बज चुके थे। गप्पू सीधे गुसलखाने में घुस गया। मैंने उसकी लुंगी, टी-शर्ट और तौलिया उसके बिस्तर पर लगी भीड़ में से ढूंढ निकाला। एक समझौता गप्पू के साथ मेरा पक्का है। जब तक वह गुसलखाने में रहे, मैं नीचे नहीं जाऊंगी। उसे डर लगता है। बचपन में मुझे भी बहुत डर लगा करता था। मैं

प्रलय

"जब कोई चीज़ गल-सड़ जाती है तो उसे उठाकर बाहर फेंक देना चाहिए। घर में रखने से बू फैलती है। बीमारी फैलती है।" अपने विचार में किसी-न-किसी तरह डाक्टर मित्रा तक पहुंचना चाहती थी, पर उनकी आंखों में असहमति भरी हुई थी। क्योंकि इन्हीं आंखों में मैं पहले सहानुभूति और संवेदना भी देख चुकी हूं इसलिए असहमति को मैंने जान-बूझकर नजरअंदाज कर दिया। मन-ही-मन खीझ भी उठी। क्योंकि इतनी सीधी-सी बात मनोवैज्ञानिक के दिमाग में घुस नहीं रही है। क्यों मुझे बार-बार समझाया जा रहा है, बहकाया जा रहा है। "इस स्थिति से क्यों भाग रही हो तुम?" बताया न आपको, मैं अब कुछ भी नहीं सह सकती—न आवाज़ की क्रूरता, न आंखों में भरा गुस्सा, न एक पल की अवहेलना, न बेमानी बेसिर-पैर की बातें—कितना समय नष्ट होता है। और मुझे बहुत कुछ करना है…'किसके लिए?' ठीक ही सवाल पूछा गया था। अक्सर जब कोई पत्नी अपने पति को त्यागती है तो कोई-न-कोई दूसरा पुरुष उसके पीछे होता है, कोई-न-कोई ठोस सहारा ज़रूर होता है। डाक्टर भलीभांति जानते हैं। मेरे पीछे कोई ऐसा सहारा नहीं है इसलिए मुझसे असहमत हैं। फिर यह सवाल मुझे झकझोरने के लिए किया गया है और मैं बहुत ही पतली टहनी पर बैठी हूं। एक नए कोमल पत्ते की तरह जो समय आने पर गिरेगा ज़रूर।

"अपने बच्चों के लिए! मेरे साथ-साथ वह भी तो पीड़ित हैं। कोई भी मां अपने बच्चों की पीड़ा नहीं सह सकती। और अगर मैं ऐसा भयानक कदम उठा रही हूं तो ज़रूर मैं बेहद पीड़ित हूं। इनके साथ रहकर तो मैं

पागल हो जाऊंगी। और…और…अलग रहकर तो मैं निश्चित रूप से पागल हो जाऊंगी।"

'ठहरो' हाथ ऊपर उठाकर डाक्टर देव ने मुझे टोका। 'आगे कुछ मत कहो। अगर यह तुम खुद ही जानती हो कि ऐसा क्यों कर रही हो। 'अपने बच्चों के लिए' बच्चे मासूम, कोमल हृदय वाले बच्चे, कलात्मक मनःस्थिति वाले बच्चे, सुन्दरता की खोज में परेशान दिशाहीन हो गए हैं। उन्हें नहीं मालूम किस ओर जाना है और क्यों जाना है ? पर बड़ा बेटा कहता है : 'मालव'; हां वह मुझे इसी प्यारे-से नाम से पुकारता है और उस प्यार में थोड़ी-सी मात्रा दया की भी होती है। 'मालव, अब तुम जो भी कदम उठाओ, सोच समझकर उठाना। एक बार तुम घर छोड़कर लौट आई हो। अब तक सब तुम्हारे साथ हैं, तुम्हारे पीछे खड़े हैं। मगर इस बार अगर तुमने फिर वैसी ही जल्दबाजी की तो सब सोचेंगे यह तो रोज़ का ही किस्सा है। कोई साथ नहीं देगा।"

'बेटा, कल रात जो हुआ उसके बाद भी तुम यही सलाह देते हो ? कल रात जो हुआ वह एक पागलपन था। कोई सामान्य औरत होती तो जहर खा लेती। पर मैं सामान्य नहीं। और फिर एक बात और कि मैं जीना चाहती हूं। पूरी तरह जीना चाहती हूं। सबको कुचलकर मैं जीना चाहती हूं। जीवित रहने के लिए मेरी मांग सीधी-सादी है।

कितनी शान्ति में बीती थी हमारी शाम। वैसे तो हमारी हर शाम शान्ति में ही बीतती है। पर कभी-कभी क्यों अक्सर छोटी-सी, निकम्मी-सी बात पर झगड़ा शुरू हो जाता है। टेलीविज़न पर फिल्म खत्म हुई तो परदे पर समाप्त शब्द आया। मैंने गप्पू की बांह पकड़ी बड़े लाड़-दुलार से। आंखों-ही-आंखों में इशारे हुए और हम दोनों भागते हुए ऊपर चले गए। चवालीस वर्षीय मां दस साल के बच्चे के साथ दोस्ताना अन्दाज में व्यवहार करे तो बच्चे को कितना भला लगता है। पौने दस बज चुके थे। गप्पू सीधे गुसलखाने में घुस गया। मैंने उसकी लुंगी, टी-शर्ट और तौलिया उसके बिस्तर पर लगी भीड़ में से ढूंढ निकाला। एक समझौता गप्पू के साथ मेरा पक्का है। जब तक वह गुसलखाने में रहे, मैं नीचे नहीं जाऊंगी। उसे डर लगता है। बचपन में मुझे भी बहुत डर लगा करता था। मैं

कभी अकेले कमरे में नहीं जा सकती थी। मुझे हमेशा लगता था कि कहीं-न-कहीं भूत छिपा बैठा है। और वह मुझे आ दबोचेगा। डर मुझे अभी भी लगता है। इस अकेलेपन से, भूतों से, प्रेतों से। इसीलिए मैं गप्पू की मन:स्थिति पूरी तरह समझती हूं। उसे मुझ पर पूरी तरह भरोसा है कि जब तक वह नहा रहा है, मैं ऊपर ही रहूंगी। एकाएक मुझे याद आया कि मैं एक बहुत ही जरूरी कागज नीचे छोड़ आयी हूं। हो सकता है कि उसे कोई बेकार समझकर भूल से इधर-उधर कर दे या फिर मैं ही उसके बारे में भूल जाऊं। भागती हुई मैं नीचे गई। भूखों की तरह उस कागज की अहमियत पति को सुनाने लगी। जल्दी-जल्दी क्योंकि मुझे एकदम ऊपर लौटना था। अभी मैं चन्द सतरें ही बोल पायी थी कि गप्पू की चीखती हुई आवाज़ सीढ़ियां पार कर नीचे पहुंची। हिचकाक की किसी भी फिल्म में उस चीख का इस्तेमाल बेहद खूबसूरती से किया जा सकता था। क्योंकि गप्पू चीख रहा था : 'मम्मी-मम्मी, तुम कहां हो ?' मैंने भी काफी ऊंचे स्वर में बौखलाकर उत्तर दिया था और ऊपर की ओर भागी थी। 'आई बेटा ! सॉरी बच्ची, मैं तो यहीं हूं।' तौलिया लपेटे वह खड़ा चीख रहा था। मानो कोई भूत उसे दबोचे खड़ा हो। और वह छटपटा रहा था। इससे पहले कि मैं ऊपर पहुंचकर उसे अपने गले से लगाकर आश्वस्त कर सकूं, मेरे पति तूफान की तरह ऊपर पहुंचे और मुझे पलंग पर फेंककर पीटना शुरू कर दिया। मैंने सिर्फ हाऊस कोट पहन रखा था। मैं पूरी तरह नंगी हो चुकी थी और मुझ पर हथौड़ों जैसे हाथ टूट रहे थे। गप्पू का तौलिया जमीन पर गिर गया था : "डैडी, छोड़ दो ! इट इज़ बिटविन मम्मी एण्ड मी।" वह चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था।

मुझे भी चोटें लगी थीं पर इसका दुख मुझे बिल्कुल नहीं था। दुख था मुझे केवल एक बात का कि गप्पू एक बार फिर दहशत में डूब गया था, यातना के नीचे दब गया था। वह एक बार फिर टूटकर नि:शब्द हो गया था। पर उसके भीतर की ध्वनियां-प्रतिध्वनियां मुझे साफ सुनाई दे रही थीं। मार-पीट का दौर जब समाप्त हुआ तो गप्पू ने जल्दी-जल्दी लुंगी और टी-शर्ट पहन ली। और मेरे साथ आकर लेट गया। मेरी दबी-दबी सिसकियों को उसने मुझसे लिपटकर रुकवा दिया था।

धीमे-से बुदबुदाकर उसने मुझे सलाह दी थी : "मां सो जाओ।" धीरे-धीरे नन्हें-नन्हें हाथ मुझे थपकियां देने लगे थे। बरसों पहले एक बार मैंने गप्पू को समझाया था : "नन्ही जान, तुम डैडी के सामने जिद मत किया करो। रोया मत करो। वह चिढ़ जाते हैं। यू ही झगड़ा शुरू हो जाता है। कुछ भी कहना हो, कोई गड़बड़ हो तो मुझे बताया करो। मेरे कान में चुपके से। मैं तुम्हें कभी नहीं डांटूगी। नन्ही सी जान इतनी गहरी बातें समझ गई थी। तीन साल के बच्चे से मैंने कितनी बड़ी आकांक्षा कर ली थी। उसने अपनी बात रखी भी थी। "मम्मी, मैं तो अब रोता भी नहीं, जिद्द भी नहीं करता, तुम्हें तंग भी नहीं करता पर तुम लोग भी तो अभी भी झगड़ते रहते हो।" कुछ ही दिनों में उसने सब कुछ समझ लिया था। उसका अन्दाजा ठीक निकला था। वह कुछ भी करे, कोई कुछ भी करे, इस घर में झगड़ा होगा, इस घर में ज्वार-भाटा जरूर उठेगा। जलते हुए लावा की लपटें उठेंगी। इन लपटों में पिछले दस वर्षों में हम इतने जल चुके हैं। जलने के बाद चीज़ सड़ जाती है। फिर यू फैलने लगती है, बीमारी फैलने लगती है। दस क्यों पच्चीस वर्ष हो गए अब। तो क्या हम अपने जीवन के अगले पच्चीस वर्ष शान्ति से नहीं बिता सकते?

"पर अलग तो तुम लोग होना नहीं चाहते," डाक्टर मित्रा बोले। "मैं होना चाहती हू। पहले नहीं चाहती थी। अब मुझमें शक्ति नहीं बची है।"

"शक्ति तुम में बहुत है।"

मैंने संदेह से भरपूर आंखें डाक्टर के तटस्थ चेहरे पर टिका दीं। यह मुझ पर व्यंग्य तो नहीं कर रहे? "तुम्हारी शक्ति मैं महसूस कर रहा हू इस समय, पहले भी कई बार की है।" एक लम्बी-चौड़ी मेज़ और पाइप का धुआं हमारे बीच फैला हुआ था। मुझे स्वयं से ही सहानुभूति हो गई। मैं अन्दर से कितनी रिक्त हो चुकी हू केवल मैं ही जानती हू। एक लम्बी चुप्पी, जिसमें एक सवाल कहीं अटका हुआ था, कमरे में भर गई।

"शायद आप सच ही कह रहे हैं। मुझमें शक्ति है—पर, पर वह

इस कमरे तक ही सीमित है, इसी कमरे में सिमटी हुई है। जो प्रहार मैं इतनी बहादुरी से इस कमरे में कर लेती हूं, वह मैं बाहर नहीं कर सकती। बाहर तो मुझ पर प्रहार होते हैं। जो बातें मैं इस कमरे में कह सकती हूं, वे बाहर जाकर नहीं कह सकती। मुझे बोलने की इजाज़त नहीं है। वह कमी मैं इस कमरे में पूरी करती हूं। घर में यह मुझे तोड़ते हैं, यहां मैं उनको तोड़ती हूं। पर अन्त में मेरे हाथ कुछ भी नहीं आता। कुछ क्षणों की राहत के अलावा मैं खाली हूं, अन्दर से बाहर से।"

"मैं तुमसे सहमत नहीं।"

ये शब्द मेरे उपचार के सिलसिले में कहे गए थे। मुझे हौसला देने के लिए।

"क्या आप मुझे सब कुछ नकारने की सलाह दे रहे हैं ? सब कुछ एक शुद्ध भारतीय नारी की तरह सहती जाऊं ?'

"नहीं, अपनी शक्ति का सही इस्तेमाल करो। पिछली बार तुमने कहा था कि इनके लिए मनोविकार विभाग में आना सिर्फ क्रिकेट का खेल है। तुम्हें यह गेंद की तरह इधर-उधर उछालते रहते हैं। याद है ?"

"हां।"

"तुम इन्हें ऐसा मत करने दो।"

मैं फूट-फूटकर एक शुद्ध औरत की तरह रोने लगी।

"आप फिर मुझे सब कुछ चुपचाप सहने की सलाह दे रहे हैं, और स्थिति सुधार कर पूरा भार मुझ पर डाले दे रहे हैं।" सिसकियों के बीच जितनी जोर से चीखा जा सकता था उतनी जोर से चीखकर मैंने उत्तर दिया। एक मरीज को एक डाक्टर पर चिल्लाने का कोई हक नहीं है। वह चाहते तो मुझे डांट सकते थे। पर मैंने देखा, वह बहुत ही सहजता से अन्तर्वेग रहित नजरों से मुझे देख रहे थे। धीमे-धीमे थोड़ी-सी सहजता मुझमें भी समा गई। मैं थोड़ी आश्वस्त हो गई।

न्यूयार्क की आबादी नब्बे लाख से ज्यादा है। उस शहर में एक हजार से अधिक मस्तिष्क रोग के चिकित्सक हैं। उनके पास अधिकतर कलाकार, बुद्धिजीवी तथा लेखक आदि ही उपचार के लिए आते हैं। जापान में तीन हजार से भी ज्यादा ऐसे चिकित्सक हैं पर उनके पास न तो लेखक

आना पसन्द करते हैं, न कलाकार, न बुद्धिजीवी, न ही आम आदमी। ऐसा क्यों हुआ? सन् १९३० समाप्त होने से पहले ही फ्रायड की कृतियां जापानी भाषा में अनुवादित रूप से लोकप्रिय हो चुकी थीं। शायद इसीलिए कि जापानी पुरुष स्वाभिमानी होते हैं, आत्मवाद के अनुयायी होते हैं, अपने को ईश्वर मानते हैं।

शायद मैं भी एक ऐसे ही पुरुष की पत्नी हूं, जिसे मैं स्वीकार नहीं कर सकती और जिसे अस्वीकारने की हिम्मत मुझमें नहीं है। मुझे वही करना होगा जो डाक्टर मिश्रा कह रहे हैं, जो डाक्टर दूबे कह रही हैं, जो गप्पू कह रहा है, जो मेरा इक्कीस वर्षीय पुत्र कह रहा है, जो मेरे सास-ससुर कह रहे हैं। मुझे एक विनाशकारी, प्रलयकारी जीवन जीना है। जितनी शान्ति, सुख, स्नेह, प्रेम, प्रहर्ष मेरी ओर नपी-तुली मात्रा में फेंकी जाए उसी के सहारे अति उत्साहपूर्वक चारों ओर जब-जब हो सके अत्युत्साहजनक वातावरण का सृजन करना है। इस बंजर रेतीली गर्म ज़मीन में उगे गुलाब के फूलों को सींचना है। इस सड़ी-गली बदबूदार ज़िन्दगी को मुझे अकेले ही सुगन्ध से भरना है।

ऐसा क्यों ?

"आप कहां थीं ?"

मैंने चौंककर फटी-फटी आंखों से डाक्टर दवे की ओर देखा ।

"अभी जब आपके पति बात कर रहे थे तो आप यहां नहीं थीं । पर जैसे ही आपके पति ने आपकी बेटी की बात शुरू की तो आप एकाएक जीवित हो उठीं । यहां वापस लौट आईं ?"

देखने में वह कितनी सीधी-सादी महिला हैं । जितनी सादी फीकी साड़ी उतना ही फीका सादा चेहरा । एक बार तो लगता है कि विदेशों से प्राप्त लम्बी-चौड़ी डिग्रियां यह ले ही नहीं सकतीं और वह भी मानस-शास्त्र की ।

मैं काफी हैरान हुई थी क्योंकि जो मुझसे वह कह रही थीं, वह एकदम सच था । मैं कुछ पल पहले वहां नहीं थी पर बेटी का नाम सुनते ही लौट आई थी । एकाएक जीवित हो उठी थी । अविश्वास से भरी सम्मान मिश्रित नजरों से मैंने उन्हें मुस्कराकर देखा था । मुस्कराई मैं इसलिए थी कि कहीं मैं एक बार फिर न रो दूं । मेरी मुस्कराहट में थोड़ा अभिमान भी था—मेरा भी कोई है जिसके लिए मैं हर समय बेताब रहती हूं । उसके नाम के जिक्र-भर से मेरे चेहरे पर पूरा तूफानी समुद्र थपेड़े खाने लगता है । पर फिर भी मैंने पूछा—

"मैं आपका मतलब नहीं समझी ?"

"अभी-अभी जब आपके पति बात कर रहे थे आप कहां थीं ? अपनी बेटी का नाम सुनते ही आप एकाएक यहां लौट आईं ।"

मैंने भर्राई आवाज़ और फूटते मन से कहा था, "क्योंकि यह एकदम

बेग बातें कर रहे थे—बेमतलब, बेमानी, निराधार, जो इन्हें चन्द पलों के बाद याद नहीं रहेंगी। पर मेरी बेटी तो बेमानी नहीं है। बेकार नहीं है और जो कुछ भी यह कह रहे हैं वह सच नहीं है। इन्हें यह भी नहीं पता कि यह बातें झूठ हैं, सिर्फ मुझे चोट पहुंचाने के लिए यह सब कुछ कहा जा रहा है, मुझे दबाने के लिए, डराने के लिए···"

मैंने डाक्टर की ओर, डाक्टर ने मेरी ओर भरी आंखों से देर तक झांका था। वह मेरी मदद कैसे कर सकती हैं ? मैं तो उस मुकाम से बहुत आगे आ गई [redacted]। पूरा सुख तो समाज में किसी को भी नहीं मिलता है, बहुत सारा तो कल्पित ही होता है न। पर मेरा तो अस्तित्व ही कल्पित है। मैं क्या हूं ? कोई नहीं जानता। कोई नहीं समझता। और अगर समझ भी जाय तो क्या होगा ? सब वैसे ही चलता रहेगा। कभी बवण्डर, कभी शान्ति और फिर घूम-फिर कर प्रचंड आंधियां।

"यह सच है कि हमारी बेटी हमसे नाराज होकर घर छोड़कर चली गई थी। इनको बस इतना ही याद है। यह याद नहीं कि वह क्यों चली गई थी। और अगर यह तूफान बन्द न हुए तो फिर चली जाएगी, घर छोड़कर, हो सकता है दुनिया छोड़कर चली जाए। उसे जीवित रहने के लिए एक भी कारण नजर नहीं आता है। वह कहती है, दिस इज ए बिट वर्ल्ड। कोई नई बात नहीं कहती, पर इस पुरानी घिसी-पिटी स्थिति को एक भयानक तरीके से महसूस करती है और मैं डर जाती हूं। यह नहीं डरते, ऐसा क्यों ?"

"क्या हम तुम्हारी बेटी से मिल सकते हैं ?" डाक्टर मित्रा ने पूछा था।

"नहीं।" मेरी नहीं में चीत्कार अधिक थी उत्तर कम।

"क्यों ?"

"उसने बहुत सहा है, बहुत चोटें खाई हैं। मैं उसे और आहत नहीं कर सकती हूं। मेरे लिए उसके मन में भरा अटूट स्नेह और प्रेम, पहले दया में बदला था, फिर शायद थोड़ी घृणा में। वह नहीं चाहती कि मैं इस तरह का दलित, कुंठित जीवन व्यतीत करूं। बेमानी बेकार के त्यागों से, अपनी खाली झोली बार-बार भरने की नाकाम कोशिश करती रहूं।

नहीं, आप उसे नहीं मिल सकते।"

पहली बार जब मैं इस कमरे में आई थी तो डाक्टर मित्रा ने अपने पाइप का धुआं अपने सामने फैला लिया था। शायद वह मेरी मदद करना चाहते थे। पर मुझे यह लगा था कि यह सिर्फ एक गिमिक है। अपने और मेरे बीच धुएं की दीवार इसलिए खड़ी की गई थी कि मुझे बात करने में कम-से-कम पीड़ा हो। बड़ी शांति से वह मेरी बातें सुनते रहे थे और एक लम्बे अरसे के बाद वह बोले थे :

"तुम्हारी बातों से लगता है कि सारा दोष तुम्हारे पति का है।"

"नहीं, दोष शायद मेरा ही ज्यादा है। मैंने आपको जो कुछ भी बताया है, अपने दृष्टिकोण से बताया है। शायद मेरी प्रतिक्रियाएं ही गलत होती हैं।"

"अच्छा मैं तुम्हें होमवर्क देता हूं। आने वाले सप्ताह में तुम्हारे साथ जो भी हो उसे लिखकर लाना।"

चिकित्सा का यह पहला कदम था। आने वाले सप्ताह में काफी विस्फोटक घटनाएं घटी थीं। डाक्टर से मिलने का दिन आ गया था और मैंने एक शब्द भी नहीं लिखा था। घर से चलने से आध घंटा पहले, बड़ी कठिनाई से मैंने बीते हुए सप्ताह का सारांश लिखा था। कितनी पीड़ा सही थी मैंने उस समय। कितना अपमानित महसूस किया था मैंने। पर यह पीड़ा और अपमान तो मैं कब से सह रही हूं। अब तक तो मुझे इसकी आदत पड़ जानी चाहिए थी। पर नहीं पड़ी थी। सच्ची बातों को लिखने पर क्यों दर्द और बढ़ गया है।

जिन्दगी का नाम तो बहाव होता है। जो चीज बहती है, वह बदलती जरूर है, उसमें कुछ भी स्थिर नहीं रह सकता है। फिर मेरे ही जीवन में यह पीड़ा व अपमान क्यों आकर ठहर गया है? क्या मैं जीवित नहीं हूं? तो क्यों इतनी संवेदनशील हूं?

पढ़कर डाक्टर मित्रा ने वह कागज का टुकड़ा मुझे लौटा दिया था। फिर मेरे पति को अन्दर बुलाया और उनसे अकेले में बातें कीं। ऐसा ही तय हुआ था। हमारा इलाज शुरू हो गया था।

अगले दो सप्ताहों में चार बार हम दोनों से डाक्टर मित्रा ने बातें

की। पांचवी बार उस कमरे में डाक्टर दवे भी मौजूद थी। शायद हमारा केस इतना जटिल था कि एक डाक्टर इलाज कर ही नहीं सकता था।

कितने ही शुक्रवार और सोमवार बीत चुके हैं। एक दिन तंग आकर मैंने पूछ ही लिया था—

"क्यों आते हैं हम दोनो यहां?" मानो सारा दोष हमारा नही डाक्टरों का है।

"तुम्ही बताओ?"

डाक्टर मिश्रा व डाक्टर दवे अच्छी तरह से जानते हैं कि जो मैं सहती हू बिल्कुल मेरी निजी, व्यक्तिगत आन्तरिक चेतना है, जिसे कोई नही समझ सकता है।

"मुझे नही पता! मैं बेहद अव्यवस्थित हूं।"

डाक्टर मिश्रा ने अपने जूते उतार दिए थे। क्यो? उसमें से तसमे निकाले। फिर बडी लगन से दोबारा जूतो मे उन्हें डालना शुरू कर दिया। क्यों? क्यो? क्यो? मानो कोई अबोध बच्चा मिट्टी के ढेर मे किला बना रहा हो। उनकी इस हरकत पर पहले मुझे बेहद खीझ महसूस हुई थी। कोई इतना सहज कैसे हो सकता है? पर फिर मुझे लगा कि डाक्टर मिश्रा की सहजता सरककर धीमे-धीमे मुझमे समा गई है। हां, मुझे सब से ज्यादा ज़रूरत है सहजता की और यही एक ऐसी दुर्लभ चीज है जो मेरे जीवन मे कभी आई ही नही। मैं एक खौफनाक भय से ग्रस्त हू। न मालूम कब कैसे और कहा कोई भी सामान्य-सी स्थिति विस्फोटक रूप धारण कर ले।

और हर विस्फोट कितना भयानक होता है। हर बार वह मुझे थोड़ा और अपग बना जाता है। और मैं, जिसके बारे मे कहा जाता है, "यह तो एक लहर की तरह आती है और मौज की तरह लौट जाती है," थोडी-सी और मिट जाती हूं। थोडी और नीचे हो जाती हू, थोड़ा-सा और लौट जाती हू। मेरे अन्दर उठने वाली लहरें थोडी-थोडी हल्की हो जाती हैं। मेरे अन्दर भरी मौजें कुछ देर के लिए रो देती हैं। पर मैं बेबस होते हुए भी हर बार अपने आपको दोबारा ढूढ लेती हूं, ऐसा ही नियम है। हर लहर चट्टान से टकराकर लौट ही तो जाती है, तूफान आता है तो

भी तो है।
जव यह एक निश्चित स्थिति मेरे जीवन में आकर ठहर ही गई है ...
लोग मेरी क्या मदद कर सकते हैं। एक स्थिर शान्ति में डूवकर क्यों
दोनों डाक्टर हफ्ते के दो घंटे हम पर वर्वाद करते हैं? क्या करते हैं?
...ा इन्हें कोई आशा नजर आती है?

"तुम्हें हम पर विश्वास नहीं?" शायद डाक्टर दवे आहत हो गई थीं।

"विश्वास तो है पर इस स्थिति को समझने के लिए पिछले पच्चीस वर्षों का एक-एक पल आपको मेरे साथ दोवारा जीना पड़ेगा। क्या यह मुमकिन है! दूसरी वात यह कि आप जिसकी मदद कर रही हैं, उसे इस मदद की ज़रूरत ही नहीं है।"

"कौन लाता है इनको यहां? तुम?"

"नहीं। हमारी एक मित्र हैं, उन्होंने हमें यहां, लगभग जवर्दस्ती भेजा है।"

"वह तो एक वार हुआ न। अव पिछले दो महीनों से कौन ला रहा है?"

"स्वयं आते हैं?"

"आना चाहते हैं?"

"हां।"

"तो फिर तुमने कैसे सोचा कि यहां आने से कोई फायदा नहीं होगा? या फिर इनको मदद की ज़रूरत नहीं।"

"क्योंकि मैं जानती हूं, मैं तटस्थ थी।"

अथाह सागर-सी चार आंखें मुझे देख रही थीं और मेरी असहाय डवडवाई आंखें उन दोनों को। क्यों न इस सागर में डूव जाऊं? लहरे... लहर का मिलन कितना सुन्दर होगा। हर वार की तरह आज भी रू... लाना मैं भूल गई थी। पर फिर भी फूट-फूटकर रो रही थी।

यह सच है कि पिछले दो महीनों में उतने विस्फोट, उतने प्रहार न... जितने पहले होते थे। पर यह तो तूफान आने से पहले की क्षणिक... है। तूफान किसी वेकार-सी वात पर आएगा और मैं उसे सह नहीं...

मेरे बच्चे उसे सह नहीं पाएगे।" पीड़ा से भरे सम्बन्ध विच्छेद के बीस दिनों के बाद जब हम—मैं और मेरे बच्चे अपने घर लौटे तो गप्पू ने कहा था—"डैडी, मैं तुम्हें सिर्फ एक चान्स और दूगा। और अगर एक और झगड़ा हुआ तो मैं घर छोड़कर चला जाऊगा।" मैंने अपनी भरी आंखें उसके नन्हे कोमल कन्धों मे छुपा ली थी। और उसे बाहों में भरकर वायदा किया था कि "नहीं बच्ची जान, कभी नहीं होगा झगड़ा। कभी भी नहीं।" "तब तो फिट है।" कहकर वह खेलने चला गया था। मेरी ही जान का एक टुकड़ा एक भारी संकट से बचकर और कितने ही संकटों में फस गया था। पर जब तक उन संकटों और उसके बीच में सुरक्षा की दीवार बनकर खड़ी रह सकती हूं मुझे कोई चिन्ता नहीं है। गप्पू से किए गए वायदे को निभाना है मुझे—अकेले ही। इस तपते रेगिस्तान को पार करना है मुझे—अकेले ही।

"तुम लोग क्या अपने बच्चों के हुक्म पर चलोगे?" एक परेशान शायद नाराज आवाज मेरे कानों से टकराई।

"क्यों नहीं? बच्चों ने जो कुछ हमारे कारण सहा है, उसके बदले में मैं वही करूगी जो वह कहते हैं। कम-से-कम घर में शान्त वातावरण की माग जरूर पूरी करूगी। यह सच है कि वह कभी भी सामान्य बच्चों की तरह मुस्करा नहीं सकते, हस-खेल नहीं सकते, पर इतना हक उन्हें भी है कि हर रोज प्लासी का युद्ध देखने से अब उन्हें छुट्टी मिल जानी चाहिए। तभी तो कहती हू कि आपको मेरे साथ पिछले पच्चीस साल फिर से जीने पड़ेंगे। जी सकती हैं आप?"

"पच्चीस साल पहले की कौन-सी बात याद है—कोई भी एक बात इस समय······"

"मैं तेरह वर्ष की थी जब मैं इन्हें पहली बार मिली थी। मुझे केवल प्रेम ही मिला था; बहुत-सा स्नेह, बहुत-सा अनुराग, जिसे मैं कभी नहीं भुला सकती हू। आज मुझे एक बात समझ नहीं आ रही। दो इन्सान एक-दूसरे को अथाह प्रेम करते है, फिर भी एक-दूसरे को सहन नहीं कर सकते? ऐसा क्यों?"

इसी तरह की बकवास करते सुनते एक महीना और बीत गया। हर

बार मैंने महसूस किया कि दोनों डाक्टर मेरी पीड़ा को पूरी तरह से जी रहे हैं, पर हमारी मदद करने में असमर्थ हैं। कम-से-कम मुझे ऐसा लगा था। मैं स्थिति सुधारने की जल्दी में हूं पर उन्हें कोई जल्दी नहीं। हर बार मेरी वाचालता के कारण मेरे पति थोड़े-से हार जाते, थोड़ा-सा टूट जाते। मुझे लगता कि मैं अब जीतने ही वाली हूं। सब घाव भर जाएंगे। सब अपमान धुल जाएंगे। डाक्टर दवे कई बार कहतीं, "आपकी पत्नी जो भी कहती हैं, हमें समझ आता है। पर आपकी बातें समझ नहीं आतीं।"

"ओह ! क्योंकि मेरी पत्नी एक अच्छी अभिनेत्री हैं।" डाक्टर दवे का चेहरा तन जाता।

उस दिन हमें थोड़ी देर हो गई थी। अन्दर कोई दूसरा मरीज बैठा था। मेरे पति ने कहा था, "जरा पूछो कि हम इन्तजार करें या लौट जाएं ?"

"आप पता करो। मरीज़ मैं नहीं आप हैं।"

सामने डाक्टर को देखकर हम उठ खड़े हुए थे। हमेशा की तरह उन्होंने हमारा स्वागत किया था, एक घण्टा समाप्त हो गया और हम घर लौट आए।

× × ×

मेरे पति बैठे अखबार पढ़ रहे थे। एक-दो बार मैंने याद दिलाया कि आज अस्पताल जाना है। दस बजे तो फैसला सुनाते हुए बोले—

"मैं नहीं जा रहा हूं।"

"क्यों ?" "मेरी मरजी।"

"वट हाऊ कैन यू डू इट ?" मैं बिफरकर चीख उठी थी।

"ह्वाई नाट ? क्यों नहीं ?"

ठीक ही तो है। ह्वाई नाट ? जब इतने अपमान मैंने सहे हैं तो एक और सहना मेरे लिए क्या कठिन काम है। दो अजनबी डाक्टरों के सामने अपने सब मुखौटे, सब आवरण उतारकर मैंने रख दिए और आप पूछते हैं ह्वाई नाट !

"पर याद है डाक्टर दवे ने आपसे कहा था कि अगर दो बार नियत दिन आप नहीं आएंगे तो वह हमारा केस छोड़ देंगी।" मैंने आखिरी

हथियार छोड़ा था, "पिछले दो हफ्तों से आप पीठ में दर्द का बहाना बना कर टालते रहे है। कम-से-कम उन लोगों को बता तो दें कि अब हम लोग अपनी चिकित्सा नहीं करवाना चाहते हैं। अच्छा लगता है कि वह अपने दो कीमती घंटे यू हमारी इन्तजार में बर्बाद कर दें।"

किसी दूसरे इन्सान को समझने का मतलब होता है अपने आपको बदलना। और कुछ लोगों के लिए यह एक खतरनाक बात है। हम सब बदलने से डरते हैं; इसलिए एक-दूसरे की आज्ञा स्वयं को नहीं देते हैं।

"मैं नही जाऊगा। हा, तुम जाना चाहो तो चली जाओ।"

"पर डाक्टर दवे ? वह क्या सोचेगी, क्या कहेगी ?"

"ओह ! शी ! शी इज ओनली ए वूमैन।"

मैं अकेली अस्पताल चली गई, गुस्से से भरी हुई। अन्दर जाते ही मैंने कहा—"मुझे पिछली बार ही पता चल गया था कि अब वह कभी यहा नहीं आएंगे। वह मरीज वाली बात मुझे नही कहनी चाहिए थी।"

"तुम्हारा यहां चिकित्सा के लिए आना कभी भी बन्द हो सकता था। तुम दोनों यह सोच रहे थे कि हम इस समस्या को अलग-अलग कानो में डालकर एक-एक करके हल कर लेंगे। तुम्हें बता देंगे कि तुम दोनो में कौन सही है और कौन गलत। पर ऐसा हुआ नही।" डाक्टर मित्रा मुझे समझाते रहे।

कई बार गुस्से से बिफरकर मैं चीखकर-चीखकर कह चुकी हू, "इनके लिए घर कुछ माने नही रखता है। इनके लिए या तो जेल ठीक रहेगी या पागलखाना।"

जेल का विचार तो तभी रद्द हो गया था जब मैं अपने वकील की सलाह-मशवरे ठुकराकर अपने घर लौट आई थी। अब तो दूसरा रास्ता ही बाकी था। पर डाक्टर दवे बीच का रास्ता अपनाने की ठोस सलाह दे रही थी और वह भी बड़ी सूक्ष्मता से, मृदुता से। उनके शब्द मैं सुन भी रही थी और समझ भी रही थी। अन्दर-ही-अन्दर मैं जैसे डूब गई थी। बीच का रास्ता तो मेरा जाना पहचाना है। इस रास्ते पर तो मैं कई बरसो से चल रही हूं।

ठीक ही तो है। जब हमने पहली बार मनोविकार विभाग मे कदम

रखे तो सबसे पहला फैसला डाक्टर मित्रा व हमारे बीच यही हुआ था। "आप पहले यह बताइए कि आप एक-दूसरे को त्यागना चाहते हैं या एक साथ रहना चाहते हैं ?" मेरा उत्तर था, "एक साथ रहना चाहते हैं।"

अपने ही उत्तर के अनुसार मुझे ही बीच का रास्ता अपनाना है, मुझे ही सब त्याग करने हैं, सब कुछ सहना—हमेशा की तरह।

और फिर अगर हर इन्सान को पूरा सुख मिल भी जाए तो जीवन कितना नियमित, कितना अनभय हो जाए। कोई कुछ नया करने का सोचे भी न। और फिर नियम, निष्ठता, अनभयता का विकास—चाहे वह डाइनोसोर में हो चाहे डिक्टेटरशिप में, अतिजीवी नहीं है; चिरस्थायी नहीं है।

'चींटियों की कतार'

रेगिस्तान की तरह फैला दिन अजगर की तरह मुंह फाड़े मुझे घूर रहा था। सतीश अपनी अनुसंधानशाला और अंश और बीव ठुमकते मचलते बाय कहकर अपने स्कूल चले गए थे। चार प्राणी—चारों के पास घर की अपनी-अपनी चाबी। जब जिसका समय हो जाएगा, या जब किसी को घर आने की जरूरत हो, बाहर से ही चाबी घुमाकर किवाड़ खोलकर अन्दर चला आए। जैसे किसी को किसी से कुछ सरोकार नहीं, किसी को किसी की जरूरत नहीं, कोई किसी पर निर्भर नहीं—सब स्वावलम्बी।

एक खामोश दीवार ने मुझे घेर लिया था। एकाएक न जाने मुझे क्यों ऐसा लगा था कि यह घेरा छोटा होता जा रहा है। दीवार मेरे और, और भी नजदीक आ रही है। अब यह मेरे शरीर को छू लेगी और मैं इसी के नीचे दब जाऊंगी। खुद को एक झटका दिया था मैंने। क्यों न एक कप काफी पी जाए। रसोई घर का किवाड़ खोला। सब कुछ सलीके से रखा धरा-था। सिर्फ एक चींटियों की कतार न मालूम कहां से कहां जा रही थी। अलमारी में से गैमेक्सीन का डिब्बा निकाला। पचास ग्राम के खाली काफी के डिब्बे में सतीश ने छः छेद किए थे ताकि जब जरूरत हो गैमेक्सीन का छिड़काव सही मात्रा में हो सके। मेरी जिद थी कि क्या जरूरत है इतने छेद बनाने की अगर दवा ज्यादा गिर भी जाए तो क्या डर है? बाद में झाड़ू से सब सफा हो जाएगा। इसी बात पर एक मामूली सा युद्ध भी हुआ था। अगर डिब्बे में छः छेद किए गए थे तो उस युद्ध के कारण ज्यादा नहीं तो एक छेद कहीं-न-कहीं मेरे भीतर जरूर हुआ होगा।

और ऐसे कई अकारण हुए युद्धों के कारण हुए छेदों से मुझे आज लगता है कि मैं अन्दर-बाहर से छलनी बन चुकी हूं। आंखों पर पट्टी बांधकर समर्पण की विलक्षण परम्परा को न जाने कैसे जीवन पर्यन्त, गांधारी ने निभाया होगा। असमय बांहों को शून्य में फैलाना, वस्तुओं और व्यक्तियों को टटोलना कहां सुखद रहा होगा उसके लिए ? उसके भी शिशु धीरे-धीरे हिमखंड होते चले गए थे। उनकी तो एक मजबूरी थी जिसके कारण कभी जान न पाए कि वाणी से अधिक मुखर वत्सल दृष्टि होती है। पर मैं क्यों अपनी आंखों पर पट्टी बांध रही हूं ? मैं क्यों इस हद तक समर्पण कर रही हूं ? ठीक है बच्चों को आत्मनिर्भर होना चाहिए। पर इस हद तक तो नहीं कि मां की दृष्टि को सेतु न बनने दिया जाए। इस साधना का मूल्य मैंने जरा महंगे में ही चुकाया। छोटी-छोटी बातों के लिए हर बार आहत होकर झुकना मुझे ही पड़ता है। बात कभी कुछ भी नहीं होती पर फिर भी कहानी बन जाती है। कहानी पढ़ लो तो खत्म हो जाती है पर यह कहानी ऐसी है जो पढ़ लेने के बाद भी खत्म नहीं होती है। फिर भी कहीं न-कहीं एक सेतु है जिसे पार करके हम चारों बार-बार मिल जाते हैं, कोई-न-कोई खास किस्म का आरलडाइट है जो हमें तोड़-तोड़कर फिर जोड़ देता है।

गैमक्सीन छिड़ककर मैंने चींटियों की कतार को देखा। पर कुछ समझ नहीं आया कि कहां से आ रही हैं और कहां जा रही हैं ? क्यों जा रही हैं ? अपने लिए एक कप काफी बनाकर बालकनी में जा बैठी थी। अच्छी तरह से याद है उन दिनों मैं लायड-सी डगलस के उपन्यासों पीछे पड़ी थी। मैं ऐसे ही पढ़ती हूं। एक लेखक को पकड़ लिया तो पकड़ लिया। और फिर डगलस के उपन्यास भी तो ऐसे हैं कि जिन्हें पढ़ते-पढ़ते कोई भी बंध सकता है। और मुझे स्वयं को बांधना बहुत जरूरी था। वैसे मैं न भी बंधती तो कर भी क्या सकती थी ? दिल्ली से बंगलौर तबादला हुआ था सतीश का। बेहद सुन्दर शहर। साफ-सुथरा, हरा-भरा, पर करने को कुछ भी नहीं। दो महीने में एक बार रेडियो से बुलावा आता, एक आध घंटे का प्रोग्राम प्रस्तुत करने के लिए। साल में चार नाटक खेले जाते, जिनकी समीक्षा डैक्कन हैरेल्ड के लिए मैं बड़ी लगन से लिखती। पर साल

में तो तीन सौ पैंसठ दिन होते हैं। बाकी के दिन कैसे बिताए जाएं ? यह समस्या मेरे लिए कभी न हल होने वाली समस्या थी।

हमारे घर की दीवार से बाल्डविन स्कूल की दीवार लगभग जुड़ी थी। हर रोज की तरह उस दिन भी एक बजने ही वाला था। अभी अंश आएगा खाना खाने और अपने लवबर्डस को दाना-पानी देने। आएगा क्या, आया था। हर रोज की तरह उस दिन भी अपनी चाबी से द्वार खोलकर घर में भागा आया था। खाना तैयार था पर वह सीधे अपनी चिड़ियों को देखने चला गया था। खाना खाकर जाते-जाते कह गया था, "आज फुटबाल का मैच है। छः बजे लौटूंगा, मौम।" हां वह मुझे इसी प्यारे से नाम से पुकारता है—"मौम।"

पर मैच नहीं हुआ था—किसी कारणवश। याद नहीं क्या कारण था। पर इतना याद है जब वह घर लौटा था तो बहुत रोया था। रोने का कारण भी अच्छी तरह से याद है। पिंजरे में धरी दोनों ही चिड़ियां निढाल-सी पड़ी थीं। मुझे खींचकर वह रसोई में ले गया था। एक नजर देखकर साफ़ समझ आ गया था कि दोनों का स्वर्गवास हो गया है। पांच बजे जब सतीश घर लौटा तो हम चारों ने बैठकर एक विचार-गोष्ठी की थी। फैसला एक मत से किया गया था। इसलिए बिना खाए पिए ही पिंजरे को गाड़ी में रखकर हम लोग पशु-चिकित्सक के यहां गए थे।

पशु-चिकित्सक साहब ने कोई प्रश्न नहीं पूछा था। बस अपनी पतली-सी नाक पिंजरे के नजदीक ले आकर धीमे से कहा था, "इनकी मृत्यु गैमेक्सीन के कारण हुई है।"

याद आया, सुबह मैंने चीटियों को मारने के लिए सही मात्रा में गैमेक्सीन का छिड़काव किया था। जाहिर ही वह सही मात्रा इन परिन्दों के लिए ही मात्रा न थी। क्या फायदा हुआ छः छेद बनाने का।

दिन-भर हवा चलती रही थी, धीमे-धीमे। गैमेक्सीन भी धीमे-धीमे उनके अन्दर जाती रही होगी और मैं सिमटती दीवारों में घिरी काफी पीती रही थी, धीमे-धीमे। हम चारों बहुत दुखी हुए थे। अंश सबसे ज्यादा। क्योंकि उसे मन-ही-मन यकीन हो चुका था कि दो से अब यह जल्दी ही चार या छः होने वाले हैं। ऐसा उस आदमी ने परिन्दे बेचते समय अंश से कहा

अब जबकि वह दोनों ही न रहे तो बच्चे कैसे पैदा होंगे ? तह एक
त बड़ा सवाल था जो अंश के मन को मथ रहा था। ऐसा नहीं कि
ने इससे पहले या फिर इसके बाद कभी मौत न देखी थी। अभी
: बरस पहले डालमिया दादरी में हमारे साठ कबूतरों में से एक कबूतर
ो एक बिल्ली ने खा लिया था। उस दिन खाना न तो बाकी के 59
कबूतरों ने खाया था और न ही हमने। और फिर अभी दिल्ली में दो
बरस पहले हमारे दो तोते अकारण ही मर गए थे। उस रात मुझे एक
भयानक स्वप्न आया था जिसमें मैंने देखा था कि दुनिया में खाने को कुछ
भी नहीं बचा है और लोग अपने-अपने घरों में पाले हुए जानवरों व
पक्षियों को ही धीरे-धीरे खाने लगे थे। हम भी इसी फैसले पर पहुंच जाते
हैं कि अब हमें अपने दोनों तोतों को ही पका लेना चाहिए और जब मैं
पिंजरे में से तोते निकालने के लिए रसोई घर में जाकर उन पर ओढ़ा हुआ
कम्बल हटाती हूं तो दोनों को पहले ही से मरा हुआ पाती हूं। कैसा
खौफनाक स्वप्न था। अगली सुबह बच्चों के जगने से पहले मैंने जब रसोई
में जाकर पिंजरे से कम्बल हटाया तो हमारे तोते ठीक उसी तरह लेटे हुए
थे जैसे मेरे स्वप्न में निढाल मृत्यु प्राय: से। उस दिन भी हम मृत तोतों
को लेकर पशु-चिकित्सक के पास गए थे, पर वह मौत का कारण बता न
सका था। और वह दो चिड़ियां जिन्हें हमने बड़े शौक से पिछले साल
जामा मस्जिद से खरीदी थीं कैसे उन्हें बचाने के लिए हमने उन्हें डाक्टर
के हवाले कर दिया था। दो दिन तक उसने क्या-क्या उपचार न किए
थे। पर वे बच न सकी थीं। पर यह मौत जाहिर है मेरी लापरवाही के
कारण हुई थी !

ये बातें कितनी पीछे अतीत में खो गई हैं। कितने ही वर्ष बीत
हैं। इस बीच, हमारे घर में एक और प्राणी भी आ चुका है—गप्पू। उ
पास भी घर की अपनी अलग से चाबी है। यह हमारी पांचवीं चाबी
पर अब दिन रेगिस्तान की तरह न तो फैलता है और न ही अजग
तरह मुंह फाड़कर मुझे घूरता है। सतीश अपनी अनुसंधानशाला औ
और बौब स्कूल की जगह विश्वविद्यालय चले जाते हैं। उनके
बेहद विस्तृत हो चुके हैं। पर मेरा उनसे सम्पर्क टूटा नहीं है। एक

सा सेतु मैंने अपने उनके बीच बना रखा है जो बीच में झूल बेशक जाए पर कभी टूटता नहीं है। पहले मैं बाहर जाने को तरसती थी, बहाने ढूंढ़ा करती थी। अब घर बैठने को तरसती हूं, बहाने ढूंढती हूं। जब शैश और बीव को मेरी ज़रूरत न रही—या मुझे जबरदस्ती यह अहसास करवाया गया कि उन्हें मेरी ज़रूरत नहीं है तो मैंने एक ऐसा काम किया, जिसे मैं आज अक्षम्य पाप मानती हूं—मैंने नौकरी कर ली। अब पन्द्रह वर्ष बाद मैं न तो नौकरी छोड़ सकती हूं और न ही खामोशी से घर बैठकर धीमे-धीमे मर सकती हूं।

उस सुबह मैं बेहद विचलित थी। बात कुछ भी नहीं थी। कुछ भी तो नहीं। सुबह पांच बजे उठकर मैं नीचे आई थी। दस मिनट में सबको चाय देनी थी। गैस पर पानी चढ़ाकर मैं सेटी पर जैसे ही लेटी तो मुझे धीमे-धीमे घंटी बजती हुई सुनाई दी थी। सुबह सवेरे बड़ी मोहक लगी थी मुझे वह आवाज़। मुझे लगा अर्ध निद्रा की अवस्था में शायद सपने में घंटियां सुनाई दे रही हैं। मैंने करवट ली और मन-ही-मन पानी उबलने का इन्तज़ार करने लगी। मुझे लगा, यही दस मिनट का आराम मेरे नसीब में लिखा है। यह दस मिनट मेरे लिए बहुमूल्य हैं। यही दस मिनट मुझे पूरे दिन का सामना करने की शक्ति देंगे। पर जैसे ही मैंने करवट ली तो नज़रें बैठक में ही रखे खरगोश के घर की ओर उठ गई थीं। अरे? खरगोश कहां गए? उठकर देखा तो जाली टूटी हुई थी और दोनों खरगोश गायब थे।

कितने दिनों से मैं कह रही थी कि देखना एक दिन यह दोनों भाग निकलेंगे। दोनों ही पूरा दिन जाली को कुतरते रहते थे। कितनी बार शैश को निवेदन कर चुकी थी, "जब फुरसत मिले तो दो कीलें और ठोक देना," दोनों भाइयों ने एक दोपहर व्यय करके जंगला तैयार किया था। दोनों खरगोशों के गले में एक एक घंटी बांधकर गप्पू खुश हुआ था, "हां इस शनिवार को तुम्हारे सब काम कर दूंगा। तुम चिन्ता मत करो", शैश ने आश्वासन दिया था।

इस शनिवार के बाद अगला और फिर अगला शनिवार भी निकल गया था

"बेटा जी, वे कीलें तो ठोक देते," कई बार याद दिलाया था मैंने।

"बस कल यही काम करूंगा। तुम ऐसा करो और भी जो काम करवाने हैं एक कागज पर लिख दो। कल सब कुछ हो जाएगा। पक्की बात," कहकर अंश मुस्कराया था।

न जाने ऐसा क्या हुआ था कि न मैंने ही कागज पर रुके हुए कामों की लिस्ट बनाई और न ही उस शनिवार को अंश ने कुछ किया। और आज दोनों ही खरगोश गायब हैं। घंटियां फिर धीमे-धीमे बज उठीं तो मैंने लपककर सेटी को कमरे के बीचों-बीच खींच लिया था। एक खरगोश दीवार के साथ चिपककर दुबका हुआ बैठा था। उसे अकेला देखकर मैं डर गई थी। दूसरा कहां गया? ऊपर गप्पू की घड़ी का अलार्म बज चुका था। धीमी-धीमी आवाजें बता रही थीं कि वह उठ चुका है और स्कूल जाने की तैयारी कर रहा है। मैंने पुकारा भी था।

"गप्पू नहा रहे हो?"

"हां।"

वह चिढ़ गया था। उसे लगा था मानो मैं उसकी चौकीदारी कर रही हूं। उसकी चिढ़ी हुई आवाज सुनकर उसे नीचे बुलाने की हिम्मत ही न जुटा पाई थी मैं। अगर मैं उसे बता देती कि खरगोश अपना जंगला तोड़कर बाहर निकल आए हैं तो शायद वह नंग-धड़ंग ही नीचे भाग आता।

पहले सोचा एक को उठाकर अन्दर धर दूं फिर दूसरे की खोज शुरू करूं।

चाय-पानी जरूर खौल गया होगा, मैं बौखला गई थी। सुबह का एक-एक पल कितना कीमती होता है। पानी को केतली में उंडेल बाहर के कमरे में गई थी, अंश के कमरे में।

"अंश। बेटा उठ तो जरा, खरगोश कमरे में घूम रहे हैं, कहीं बिल्ली न खा जाए। भई बात सुना करो, जल्दी उठो न।"

अंश ने अन्दर आकर दीवार से चिपके खरगोश को उठाकर जंगले में डाल दिया। फिर दूसरे की खोज शुरू हुई थी। तब तक गप्पू भी तैयार होकर नीचे आ गया था। तख्त पोश के नीचे दूसरा खरगोश बैठा था।

पने द

और उसकी गर्दन बिल्ली के मुंह में थी। बड़ी कठिनाई से बिल्ली को भगाया पर खरगोश हिला नहीं। या शायद हिल न सका था।

"हाय! यह तो मर गया है," गप्पू चीखा था। आंखों में पानी भर आया था उसके!

"नहीं नहीं, सिली फूल। सिर्फ चोट आई है। ठीक हो जाएगा।" मैंने डांट पिलाई थी। गप्पू की आंखें डबडबा आई थीं पीड़ा से। बड़े भाई में उसे असीम विश्वास है न इसलिए उसकी बात का यकीन करके विश्वस्त-सा होकर स्कूल के लिए रवाना हो गया था गप्पू। जाता-जाता जख्मी खरगोश की पीठ पर हाथ फेर गया था।

जब तक दोपहर को गप्पू स्कूल से लौटा तो सतीश का अनुसंधान-शाला लौटने का समय हो चुका था और मेरा आराम करने का। केवल आध घंटे का आराम और फिर सात घंटे की ड्यूटी। आते ही गप्पू ने सवाल उछाला था—

"खरगोश को डाक्टर के पास कब लेकर जाएंगे?"

"इसे कुछ भी नहीं हुआ है। चिन्ता मत कर।" वह बेचारा नहीं जानता था कि उसे टाला जा रहा है। उसका अबोध शिशु हृदय मान गया था। पर शाम तक जख्मी खरगोश ने न कुछ खाया, न पिया। मैंने गप्पू को समझाया, "बेचारा डर गया है।" आहत खरगोश को कहीं और तकलीफ न हो, उस शाम टेलीविजन भी न चलाया गया और गप्पू ने अपनी पढ़ाई भी उसके जंगले के पास ही बैठकर की। उसकी एक आंख कापी पर और दूसरी पिंजरे पर टिकी थी।

अगली दोपहर जब गप्पू स्कूल से लौटा तो खरगोश को वैसे ही बैठा पाया जैसा कि वह सुबह बैठा था। लगता था आखिरी सांस ले रहा है।

"डैडी, इसको अभी डाक्टर के पास लेकर चलो।"

"अभी तो मैं काम पर जा रहा हूं। शाम को चलेंगे बेटा। पांच बजे तैयार रहना।"

"मैं जा रहा हूं आपके बहाने। इसको अभी ले चलो। नहीं तो यह मर जाएगा···"

तब तक सतीश किवाड़ खोल चुके थे। वहीं पर निगाह डाली तो

चीटियों की

दो बज चुके थे।

"नहीं बेटा, बहाना क्यों बनाऊंगा। तुम तैयार रहना। अब तो मैं चला।"

"मम्मी तुम्हारी आज ड्यूटी है?" वैसे तो यह सवाल मुझसे रोज ही पूछा जाता है पर बस अभी, चार बजे चली जाऊंगी सुनकर गप्पू की आंखों में एकाएक संकट भरा आतंक छा गया। मां अभी काम पर चली जाएगी, बाप टालकर वायदा करके चला गया है। हो सकता है वह सच्चा है पर सुविधा अनुसार बदला भी जा सकता है। घर पर रह जाएंगे गप्पू और खरगोश।

"मम्मी, लिसन टू मी। लेट अस टेक हिम टू द वेट। यू एंड आई।" गप्पू की आवाज में एक आतुरता थी जिसे मैं नकार न सकी। मुझे एकाएक बंगलौर की वह विचारगोष्ठी याद आ गई जिसके बाद हम मरे हुए परिन्दों को गाड़ी में डालकर पता करने निकल पड़े थे कि यह मर कैसे गए? और आज एक मरते हुए खरगोश को चिकित्सक के पास ले जाने का समय इस घर में किसी के पास नहीं है।

"कम गप्पू जी, यू एंड आई विल गो," मैंने फैसला कर लिया था।

शब्द तो आठ ही थे। पर निर्णय सुनाते समय मुझे लगा था कि कई टन ग्लानि मेरे शरीर से घुल कर बह गई है। अच्छा ही हुआ गन्दगी को बहा ही देना चाहिए।

दोनों खरगोशों को एक थैले में रखकर हम दोनों एक नजदीक के ही पशु चिकित्सक के यहां पहुंच गए थे।

कितनी सहानुभूति व समवेदना से उस डाक्टर ने जख्मी खरगोश की जांच-पड़ताल की थी। पहले महलम लगाई फिर एक टीका। जब टीका लग रहा था तो गप्पू ने खरगोश की टांग पहले कसकर पकड़ी थी फिर सहलाई थी। कातर नजरों से चिकित्सक से गप्पू ने पूछा था—
"यह बच तो जाएगा न, डाक्टर साहब।"

"बेशक। कल तक देखना यह पहले की तरह उछल-कूद मचाएगा। तुम कोई चिन्ता मत करो।" पहले उसने गप्पू की पीठ ठोकी थी और फिर चिकित्सक ने मेरे परेशान चेहरे की ओर देखा था। मुझे आध घंटे के

अन्दर ड्यूटी पर पहुंचना था। उससे पहले गप्पू और खरगोशों को घर पहुंचाना था। मुझे लगा मुफ्त में ही पांच रुपये खुल गए। इस खरगोश ने बचना तो है नहीं। कभी बिल्ली का काटा खरगोश जीवित रह ही नहीं सकता। यह बात चिकित्सक भी जानता था और मैं भी। पर हम दोनों गप्पू को यह बात नहीं बता सकते थे। शायद गप्पू के लिए यही अच्छा था। कल तक या फिर परसों तक जब यह खरगोश नहीं रहेगा, कम-से-कम वह स्वयं से घृणा तो नहीं करेगा। पूर्ण सच्चाई से वह उसके मरने का शोक तो मना सकेगा। और मैं बिना किसी आत्मग्लानि के उसे सांत्वना तो दे सकूंगी।

तो सब सुने थे।

“नहीं बेटा, बहुत क्यों बनाओगी। कुछ तैयार रखना। सब तो [illegible] [illegible]।”

“आपकी तबीयत आज कैसी है?” [illegible]

[illegible]

[illegible]

“[illegible] बाबू जी, [illegible]” [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

“[illegible] आइए।”

[illegible]

अन्दर ड्यूटी पर पहुंचना था। उससे पहले गप्पू और खरगोशों को घर पहुंचाना था। मुझे लगा मुफ्त में ही पांच रुपये खुल गए। इस खरगोश ने बचना तो है नहीं। कभी बिल्ली का काटा खरगोश जीवित रह ही नहीं सकता। यह बात चिकित्सक भी जानता था और मैं भी। पर हम दोनों गप्पू को यह बात नहीं बता सकते थे। शायद गप्पू के लिए यही अच्छा था। कल तक या फिर परसों तक जब यह खरगोश नहीं रहेगा, कम-से-कम वह स्वयं से घृणा तो नहीं करेगा। पूर्ण सच्चाई से वह उसके मरने का शोक तो मना सकेगा। और मैं बिना किसी आत्मग्लानि के उसे सांत्वना तो दे सकूंगी।

कुछ तो करना चाहिए

वड़े गुमान से मैं रमन को वता रही थी, "देखो वड़ा भैया कभी ऐसी हरकत नहीं कर सकता। इसका मुझे पूरा विश्वास है। मैंने तो कभी उसे नहीं समझाया कि राह चलती लड़कियों को नहीं छेड़ा करते और कोई दूसरा छेड़े तो उसे मना करना चाहिए। तुम्हें पंगेवाजी करने की कोई ज़रूरत नहीं, लोग-वाग चाकू-छुरी भी निकाल लेते हैं, वात-वात में। पिछले पांच सालों में कितने दंगे-फसाद हुए। दिल्ली के सभी कालेजों में महीनों हड़तालें चलीं पर तुमने देखा वड़े भैया या दीदी ने कभी हिस्सा नहीं लिया, किसी ने उन्हें मना थोड़े ही किया था और वह अपने-अपने कालेजों में क्या करते हैं, हम घर वैठे कैसे जान सकते हैं। पर कभी कोई शिकायत नहीं आई। कभी कोई लफड़ा खड़ा हुआ? कभी दंगा-फसाद नहीं करना चाहिए।"

रमन एक लड़के को पीट-पाटकर लौटा था, नहीं वैसी मार-पीट नहीं, घूसों-मुक्कों वाली भी नहीं, न ही गाली-गलौज खून-खरावे वाली। उसका एक अपना अलग ही संसार है, जू-चित्सु और जूडो-कराते का, शरीर और मन को एक सुर में शान्त रखने का, ताई गीचुआन को वह पूर्ण रूप से स्वीकारता है। कहता है, जो अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, कमजोरियों को छुपाता है, वह उस नदी के समान है जिसमें सवकुछ समा जाता है। उसने वड़ी मेहनत से अपने मन व शरीर को स्वस्थ, शान्त, निर्मल, सचेत और एकाग्रचित रखने की जापानी और चीनी विधाओं का अध्ययन किया है। ऐसे क्षणों में कैसे दुश्मन का सन्तुलन विगड़ जाता है, मानव शरीर रचना और उत्तोलन के सम्वन्ध में अर्जित अपना ज्ञान वह मुझे अक्सर दिखाता

समझाता रहता है। इस कला से सम्बन्धित जो भी पुस्तक रमन ने मांगी, आईचिग, जैन टीचिंग हुआंग, ह्वील आफ लाईफ, मैंने लाकर दी। उसने एक गी की फरमाइश की मैंने दो सिलवा दिए, "भई एक मैली होगी तो दूसरी पहन लेना।" रमन अक्सर कहता, *"बट इट इज सो एक्सपैन्सिव।"*

"तुम्हें मतलब। तुम यह बताओ तुम्हें गी चाहिए या नहीं, जरूरत है तो बोलो मिल जाएगी।" मन-ही-मन मैं हिसाब लगाती अब के बिना मतलब के कुछ नहीं खरीदना, यूं ही जा-जाकर बोल्गा गेलोर्ड में नहीं बैठना। बस जो बीत चुका उसे मैं नहीं लौटा सकती। पर भविष्य के लिए तो सोच सकती हूं। और फिर धीरे-धीरे मुझे भी यह किताबें पढ़ने में मजा आने लगा। इन शौर्य कलाओं के संशोधित परिस्कृत रूपों को समझने में आनन्द आने लगा। और फिर रमन का ताई-ची-चुआन का प्रदर्शन तो किसी भी उत्तम बैले नृत्य से अधिक आनन्ददायक लगने लगा। फिर एक दिन वह दिल्ली स्टेट चैम्पियन बन गया।

"बाबा लेट अस सी यू डू ताई-ची-चुआन।" मैं उसे निहारती और *रीझ-रीझ जाती। रमन के शरीर के अंगों व अवयवों की सामूहिक संतुलित* गति, कमरे में अजीब-सी शान्ति फैला देती है। शुरू-शुरू में तो मैं डर जाती थी, ३०-४० फुट तक छलांगें लगाना, दोनों टांगों को १८० डिग्री तक फैलाकर घर के पिछवाड़े में विशेष रूप से बने 'दो जो' में विशेष व्यायाम करना, अजीव-अजीब आवाजें निकालना⋯बाबा डोन्ट डू इट⋯ ह्वाट विल द पीपल से⋯स्टाप इट⋯और फिर भय कि कहीं किसी को सड़क पर मार-पीट न आए।

"वट ममी, ह्वी आर नाट एलाओड टू हिट।" धीरे-धीरे मुझे भी सब बारीकियां समझ आने लगी थी। पहले मेरी आखें हैरानी से फटने लगती थीं, अब तो मैं यह सब देख-सुनकर खुश होती हूं—चलो और लड़कों की तरह *दर-दर की ठोकरें तो नहीं खाना, हर वक्त सिनेमा,* रेस्ट्रां की बातें तो नहीं सोचा करता। आवारागर्दी से अनुशासित जीवन बेहतर है वह भी मां-बाप की बजाय खुद का थोपा, पसन्द किया हुआ। फिर भी कभी-कभी रमन के अनुशासित तौर-तरीकों से मुझे दिक्कतें जरूर पैदा आ जाती हैं। मेरी चपल अनर्थ बातें उसे पसन्द नहीं

हैं। अगर कहीं विना पूछे किसी फिल्म की टिकटें खरीद लाऊं तो मुझे वड़ा ही आहत नजरों से एकटक देखने लगता है, मानो कह रहा हो—यू आर इनकोरिजीवल···यू विल नेवर लर्न···

"क्यों वावा, अच्छी पिक्चर है, चलते हैं।"

"हां-हां, जैसे वह नूरी अच्छी थी न। मेरा पूरा दिन वरवाद कर दिया था। मैं नहीं जाता वेकार की फिल्में देखने। यू गो विद डैड।"

रमन की अपनी समस्याएं थीं तो मेरी अपनी। वह अपने हाथों मजबूर था, मैं अपने। पर वदलना तो मुझे ही पड़ेगा, उसका अपना अलग संसार है, उसमें से जितना वह मेरे साथ वांटना चाहता है उतना ही मुझे हंसकर वांट लेना चाहिए। ऐसा मेरे साथ पहली वार थोड़े ही हो रहा है। मैं तो वड़ी अनुभवी मां हूं। इसी उमर तक आते-आते रानी और राजीव भी तो मुझसे कट गए थे। अपने मित्रों, सहेलियों, अपने-अपने कालेजों में और फिर अपनी-अपनी नौकरियों के संसार में खो गए थे। और अव मैं उनके साथ उनका उतना ही जीवन वांट सकती हूं जितना वह चाहते हैं। न कम न ज्यादा।

वेकार था रमन को वताना कि डैडी के साथ फिल्म देखने से वेहतर है अकेले देख लो, हजार मिन्नत चुनौती के साथ चलेंगे तो या तो अन्दर पहुंचते ही खर्राटे भरने लगेंगे या फिर पिक्चर के दौरान तरह-तरह की आवाजें निकालकर जतला देंगे—कहां फंसे। रमन यह सव जानता है। फिर भी अक्सर मेरे साथ चलने से इंकार कर देता है। तव मन करता है पूछूं, क्यों? पर छोड़ो, यह तो होना ही था। अपन डैड की ही ज्ञानोन्नति कर लेंगे। आखिर मैं क्या नहीं कर सकती? इसी वात का तो गुमान है मुझे, जो फैसला कर लिया वही कर दिखाया। और किसी को पता भी न चलने दिया। सव किया-धरा मेरा ही है। डैड को ही कलटीवेट करना पड़ेगा।

"वेटा आपको झगड़ा नहीं करना चाहिए था।"

"वट ममी ह्वाई डोन्ट यू अण्डरस्टेंड। वह जान-वूझकर हर रोज प्रणव की वहन को छेड़ते हैं, वेचारी घर से वाहर निकलती है तो पीछे-पीछे चलने लगते हैं।"

"देखो वच्चा, वह लोग वेहद फ्रसटेटिड हैं। तुम लोगों को आपस में

मिल जुलकर, हंसते-खेलते देखते हैं, लड़के और लड़कियों को बिना हिचक के बातें करते देख उन्हें लगता है उनमें कोई कमी है···।"

"बस-बस मैं सब जानता हूं। ऐसा पाठ पढ़ाकर आया हूं, जिन्दगी भर याद करेंगे।"

मैं सहम-सी गई थी।

"हाय क्या करते हो, कहीं चाकू-वाकू न मार दें, तुम्हें क्या पड़ी है।"

"क्यों नहीं पड़ी है, अगर कोई रानी को छेड़े तो क्या मैं खड़ा-खड़ा देखता रहूंगा। यह सोचकर कि···।"

"नहीं, मेरा यह मतलब नहीं है। अच्छा चल बता फिर क्या हुआ ?"

"होना क्या था। मैंने उनके बीचोंबीच स्टॉम लिया, क्या स्टॉम था और बस शुरू हो गया, कौ···कौ, या, या···या···या···या···।"

"हे राम तूने तो मुझे डरा ही दिया था। मैं तो समझी मारा-पीटा होगा सिर्फ कौआ की चीख-पुकार से ही तूने डरा दिया उनको। पर कितनी बुरी बात है। इनके मां-बाप इन्हें समझाते क्यों नहीं ?"

"मम्मी तुम कह रही थी कि तुमने कभी भैया दीदी को शब्दों से नहीं समझाया फिर भी वे क्यों इतने वेल विहेव्ड हैं।"

"बस बच्चा, यह बातें कही नहीं जातीं। इनका अहसास बचपन में, अनजाने में ही करवा दिया जाता है।"

"कैसे ?"

रमन को मैंने पूरी तरह से विश्वस्त कर दिया था, एक सम्पूर्ण भाषण झाड़कर, वह सहज-सा होकर अपने कमरे में पढ़ने चला गया था। हर साल की तरह इस साल भी मई-जून में बिजली ने जी भरकर तंग किया था पर अगस्त के महीने की वर्षा विहीन गर्मी और बिजली चार-चार घंटों तक गायब। बेचारा काफी हाल-बेहाल था। लालटेन के सहारे अगले दिन की परीक्षा की तैयारी में लग गया था। साल भर का पढ़ा-लिखा जब तक आखिरी क्षणों में न देख लो तो लगता है कुछ आता ही नहीं।

आज सुबह रमन पांच बजे उठा था। दो-दो घड़ियों में अलार्म लगाया गया था। "मम्मी तुम टेलीफोन पर भी छः बजे का अलार्म लगा दो। कहीं

"क्या वात करता है दुनिया इधर से उधर हो जाए डैड तो उ...
डैड के जगने के वाद क्या कोई घर में सोया रह सकता है।"

ओ० के०, ओ० के० कहते हुए रमन ने अपने कमरे का दरवाजा वन्द कर लिया था। सुवह दोनों अलार्म घड़ियां टनटना उठी थीं। पहली पांच बजे और फिर पांच वजकर दस मिनट पर। उसके वाद रमन सीटियां वजाता रहा था। मधुर संगीतयुक्त सीटियां मुझे सूचना दे रही थीं—सव ठीक है। नींद भी अच्छी आई, तैयारी भी पक्की है, सव ठीक हैं। ठीक दो वजे मेज पर सलाद, दही, दाल, सब्जी और कीमे की छोटी-छोटी कटोरियां और एक थाली में तीन पराठे मैंने रख दिए थे। सव कुछ यथा-स्थान था, सही मात्रा में था, सही अनुपात में था, वस अभी रमन सीटियां वजाता हुआ अपनी चावी से घर का मुख्य द्वार खोलेगा और सीधा ऊपर जाएगा कपड़े वदलने। दूर से मैं उसे आता हुआ देख लेती हूं। मन करता है किवाड़ खोलकर उसके पीछे छुप जाऊं और जैसे ही अन्दर कदम रखे मैं उसे हो-हो कहकर डरा दूं। पर नहीं, मैंने अपनी किताव उठा ली है। मैं वहुत व्यस्त हूं। सच मैं हूं, मैं वहुत अनुशासित हूं, कम-से-कम रमन को ऐसा ही जतलाना है। वह इसी में खुश है। मुझे उसे जैसे-तैसे खुश रखना है ताकि वह मुझे अपना दोस्ताना, चाहे थोड़ी-सी मात्रा में ही सही, देता रहे, मैं उससे बात करूं तो वह मेरी उलाहना न करे, ओह ममी, उफ मम्मी कहकर मुझे अपने मुकदमे से खारिज न कर दे।

"आ गए वेटा जी।"

गरदन के हिलने का आभास मात्र हुआ मुझे। कैसा जुल्म है नन्हीं जानों को किसलिए इस गर्मी का प्रकोप सहना पड़ता है। कि... घवराया हुआ-सा लग रहा है। उत्तर-पश्चिम भारत के वहुत-से भा... मानसून सामान्य से कम हुई है तो कुछ राहत वच्चों को तो मि... चाहिए। क्यों नहीं कुछ दिन के लिए स्कूल वन्द कर देते। वरसों से में इन दिनों रेन होलीडे मिलती रही है। कुछ तो करना चाहि... स्कूल वालों को, अव इन्हें नो रेन होलीडे मिलनी ही चाहिए।

"आइए खाना तैयार है।"

रमन फ्रिज में से निम्बू पानी का जग उठा लाया है। ज...

पकड़ते ही उसने जरूर कुछ राहत महसूस की होगी।

"कैसे हुए पेपर ?"

"ठीक हो गए। ममी मैं खाना खाकर पहले पढ़ूंगा, छः बजे तक।"

"क्यों, क्यों, पहले थोड़ा आराम कर लो।"

"न बाबा, कोई आराम-वाराम नहीं कर सकते आजकल। कहीं फिर से बिजली चली गई तो मैं क्या करूंगा ?"

मुझे लगा मानो किसी चील अथवा गिद्ध ने राह चलते मेरे जिगर के टुकड़े को नोच लिया हो। क्या दोष है इस बच्चे का ? यह कैसे संकट में हम सब ग्रस्त हैं, कौन किसे पकड़ेगा, सब थानेदार, सब चोर। पिछले दो महीनों से ऐसा भी देखा गया कि दिन में घरों में बिजली बन्द रही और गली सड़कों पर ट्यूबें बल्ब दिन भर जलते रहे। इस षड्यन्त्र के विरुद्ध कुछ तो करना ही चाहिए।

"बाबा, तुम लोगों को भी वही करना चाहिए जो इन्दिरा गांधी ने कल किया।"

"क्या ?"

"मारुति केस के सिलसिले में इन्दिरा गांधी की कल कचहरी में पेशी थी। लिखकर जवाब देने थे जिसके लिए २३ दिन का समय दिया गया था। कचहरी में इन्दिरा जी ने बयान दिया कि मंगलऔर बुधवार को चूंकि दिल्ली में बिजली न थी, इसलिए हम अपने लिखित उत्तर तैयार नहीं कर सके।"

"तो इसमें हम क्या कर सकते हैं ?"

"हां बाबा, तुम लोग भी सर से कह देते कि इम्तहान की तैयारी नहीं कर सके क्योंकि दो दिन से बिजली नहीं है। हल्ला करते, शोर मचाते।"

अविश्वास से भरपूर रमन की आंखें मुझे एकटक देख रही थीं। यह क्या पाठ पढ़ा रही है मेरी मां ? मुझे लगा बिना एक शब्द बोले, बिना हाथ-पांव हिलाए वह मुझे चाबुक मार रहा है और मेरे पास अपनी रक्षा का कोई तरीका नहीं है। मैं आंखों-ही-आंखों में मुस्कराकर इस विषम स्थिति से बचने का उपाय सोच रही हूं और रमन की दैदीप्यमान आंखें अपनी ग्राह्यता का स्पष्टीकरण दे रही हैं।

टूटा हुआ दायरा

उसे मरे दस साल हो गए हैं, शायद ग्यारह। ठीक से याद नहीं आ रहा, पर इतना ज़रूर याद है कि वह मर चुकी है। और यह भी याद है कि वह पहले जिन्दा थी बेहद जिन्दा, जिन्दगी से भी ज्यादा। जिन्दा और बेहिसाब खूबसूरत। अट्ठाईस साल पहले यहां ब्यूटी कान्टेस्ट नहीं होते थे पर उसकी सुन्दरता के चर्चे बम्बई पहुंचने के बाद विदेशों में भी पहुंच चुके थे। एक फ्रेंच फिल्म निर्देशक दिल्ली आया तो उससे विशेष रूप से भेंट की थी। कितनी तस्वीरें खींची थीं उसकी। फिल्म में काम करने का निमंत्रण दिया था, कितने प्लान बनाए थे उसने। एक दिन वह तस्वीरें कालेज लाई थी। मिरैंडा हाउस की हरी भरी कुल एक साल पुरानी घास पर हम लोग दायरा बनाकर बैठ गए थे। तस्वीरें घूमती रही थीं। एक जोड़ी हाथ से दूसरी जोड़ी हाथ तक गुजरती जा रही थीं। रिमार्क पास होते रहे थे। हंसी फैलती रही थी और लाल इंटों की दीवारों से टकराती रही थी। वह हंसी तो मिरैंडा हाउस की दीवारों में आज भी गूंज रही है, पर वह नहीं रही। अगर वह वैसे ही बैठी रहती, उसी दायरे में, तो शायद इतनी जल्दी न मरती, इतनी अकेली न मरती। उस दायरे से निकलकर उसने खुद को ही मार डाला।

उसकी हर बात हम सबको चौंका देने वाली होती। उसकी पोशाकें, उसका दाएं कान के ऊपर किया गया जूड़ा, उसके जूते, उसके क्लैरो स्वेटर, उसके चलने का तरीका सब निराला था। अभी हम बी० ए० के प्रथम वर्ष में ही थे कि एक दिन उसने हमें बताया—

"मैं शादी करने जा रही हूं।"

"जरूर बौबी होगा ?"

"पर यह कैसे हो सकता है ?"

"यह फैसला कैसे हो गया?" सवालों की बौछार-सी शुरू हो गई थी।

"नहीं बौबी नहीं है। उसका नाम है रोनो," उसदिन वह जैसे मुस्कराई वैसे दोबारा मुस्कराना उसके नसीब में नहीं लिखा था।

"रोनो ? कौन रोनो ?"

"मेरी मौसी का देवर है। वे लोग मनीला में रहते हैं।"

कितनी हसरत-भरी निगाहों से सबने उसे देखा था। अगले ही दिन मंगनी की रस्म थी। उसके घर में लोगों का एक हजूम-सा उमड़ पड़ा था, किसी को विश्वास ही न होता था। उसी भीड़ में बौबी का चोट खाया चेहरा भी घूम रहा था। पर वह अनगिनत हीरों से जड़ा सैट और गुलाबी बनारसी साड़ी पहनकर बहुत खुश थी। शादी दस दिन बाद होनी थी।

मेहमानों के ज़रा छट जाने के बाद मैंने उससे पूछा था :

"तू इस बदसूरत दानव से शादी करने जा रही है ?"

"हां।"

"वट ही इज सो अगली ?"

उसका उत्तर सुनकर मैं कैसे चौंक गई थी।

"बट ही इज सो रिच।"

"मनी इज नाट आल ?"

"इट इज।"

दस दिन बाद वह सजी-सवरी कार में बैठकर रोनो के साथ मैंडनज होटल के लिए रवाना हो गई थी।

× × ×

उसकी सब से निकटतम व प्रिय सहेली होने के नाते मैंने अगली सुबह दस बजे मैंडनज फोन किया था। और फिर उसके घर। उसका घर ? कहां था उसका घर ? वह भी कभी न जान पाई। उसका घर तो मनीला में बनना था न। पर बना नहीं। गर्मियों की छुट्टियां शुरू हो

थीं। पहाड़ों पर जाने की तैयारी के दौरान उससे सम्पर्क स्थापित
की काफी कोशिश की थी। कुछ ठीक से उत्तर न मिलता। मुझे लगा
सब कुछ सामान्य नहीं है।

नैनीताल में एक शाम हम लोग मल्लीताल से तल्लीताल जा रहे थे।
मने देखा तो सफेद सलवार कमीज पहने वह आ रही थी। मुझे देख-
र वह ठिठक गई थी और मैं उसे देखकर चौंक गई थी, मैंने कहा न
उसकी हर बात...पर यह रूप...

"तुम ? इस हालत में ?" याद नहीं मैंने यह शब्द कहे भी थे या
नहीं पर मेरी फैली हुई आंखों ने जरूर कहे होंगे। इसी तरह फैली हुई
हजारों आंखों से बचाकर उसकी मां उसे नैनीताल लाई थी।

"रोनो कहां है ?"

"मैंने उसे छोड़ दिया है।"

"कब ?"

"जिस दिन शादी हुई थी।"

उसकी और मेरी मां पीछे चल रही थीं। हम दोनों दबे स्वर में बात
कर रही थीं। कहीं कोई सुन न ले—वह बात जो सबको पता लग चुकी
थी—उसने मेरा हाथ धीरे से दबाया था। केवल मैंने ही उसे सलाह दी
थी कि रोनो से शादी मत करो, उससे मैंने बार-बार पूछा था—"आर यू
श्योर ?" मुझे हक था, इसलिए बार-बार पूछा था और आज वह मुझे
ही बता रही थी कि उससे भूल हो गई।

"जब हम मैडनज होटल के अपने कमरे में पहुंचे तो मैंने उस
भयानक रूप देखा। वह क्षण जिससे पति-पत्नी अपना नया जीवन आर
करते हैं, आया ही नहीं। जो चीज शुरू ही नहीं हुई उसके मिट जाने
कैसा गम ?" वह आहत-सी मुझे देख रही थी, उसने मेरा हाथ
छोड़ा न था।

"उसने मुझसे पहली बात यह की थी कि मनीला में उसके
में उसकी तीन रखैलें रहती हैं और वहीं बनी रहेंगी। वहां
कहीं मुझे धक्का न लगे इसीलिए पहले ही दिन बताना ठीक
मैंने तड़पकर पूछा था कि मुझसे शादी क्यों की ? तो कहने

पास बे इन्तहा जायदाद है, जिसके लिए मुझे अपने बच्चे तुम से चाहिएं। मैं अपना दुल्हन का जोड़ा पहने टैक्सी में बैठकर उसी समय अपने घर लौट गई," मैं चुपचाप सुनती रही और उसकी पीड़ा को महसूस करती रही।

"अब आगे क्या सोचा है?"

"कुछ भी नहीं। शायद पढ़ाई पूरी करूंगी।"

"कहां?"

"मिरेंडा हाउस में।"

मैं एक बार फिर चौंकी थी। उसकी शादी गुपचुप नहीं हुई थी। पूरी दिल्ली मौजूद थी, उसे जानती थी, पहचानती थी।

"हिम्मत है?"

"हां, है।"

मैंने उसका हाथ दबाकर आश्वासन दिया था, "मैं तुम्हारे साथ हूं।"

जुलाई में कालेज खुला तो सब सहेलियों ने उसे सहजता से अपना लिया था—मानो कुछ भी न हुआ हो। और हुआ भी क्या था? एक शादी जो टूट गई थी, जिसे उसने तोड़ दिया था।

एक साल बीत गया। एक दिन हम सब यूनीवर्सिटी ग्राउंड में क्रिकेट मैच देख रहे थे। मैंने देखा कि एक लम्बी-चौड़ी काली ब्यूक गाड़ी आस-पास देर से मंडरा रही थी।

"सुनो यह गाड़ी रोनो की है। वह आजकल दिल्ली आया हुआ है। कहता है मैं उसकी पत्नी हूं। सीधे-सीधे साथ नहीं जाऊंगी तो अपहरण करके ले जाएगा।"

"ओह, द ब्रूट।"

अगले कई दिन सहमे-सहमे दम घुटते हुए से बीते थे। बीजी उसे अपनी गाड़ी में सुबह कालेज छोड़ने आता और दोपहर को ले जाता। काफी हाउस और लाइब्रेरी जाना एकदम बन्द कर दिया गया था। दानव-सी काली सूरत लिए रोनो कई दिन आगे-पीछे घूमता रहा। कई घंटों की जिद और बहस के बाद वह उसे तलाक देने के लिए राजी हो गया।

चुकी थीं। पहाड़ों पर जाने की तैयारी के दौरान उससे सम्पर्क स्थापित करने की काफी कोशिश की थी। कुछ ठीक से उत्तर न मिलता। मुझे लगा भी सब कुछ सामान्य नहीं है।

नैनीताल में एक शाम हम लोग मल्लीताल से तल्लीताल जा रहे थे। सामनें देखा तो सफेद सलवार कमीज पहने वह आ रही थी। मुझे देख-कर वह ठिठक गई थी और मैं उसे देखकर चौंक गई थी, मैंने कहा न उसकी हर वात···पर यह रूप···

"तुम ? इस हालत में ?" याद नहीं मैंने यह शव्द कहे भी थे या नहीं पर मेरी फैली हुई आंखों ने जरूर कहे होंगे। इसी तरह फैली हुई हजारों आंखों से वचाकर उसकी मां उसे नैनीताल लाई थी।

"रोनो कहां है ?"

"मैंने उसे छोड़ दिया है।"

"कव ?"

"जिस दिन शादी हुई थी।"

उसकी और मेरी मां पीछे चल रही थीं। हम दोनों दवे स्वर में वात कर रही थीं। कहीं कोई सुन न ले—वह वात जो सवको पता लग चुकी थी—उसने मेरा हाथ धीरे से दवाया था। केवल मैंने ही उसे सलाह दी थी कि रोनो से शादी मत करो, उससे मैंने वार-वार पूछा था—"आर यू श्योर ?" मुझे हक था, इसलिए वार-वार पूछा था और आज वह मुझे ही वता रही थी कि उससे भूल हो गई।

"जव हम मैंडनज होटल के अपने कमरे में पहुंचे तो मैंने उसका भयानक रूप देखा। वह क्षण जिससे पति-पत्नी अपना नया जीवन आरम्भ करते हैं, आया ही नहीं। जो चीज शुरू ही नहीं हुई उसके मिट जाने का कैसा गम ?" वह आहत-सी मुझे देख रही थी, उसने मेरा हाथ अभी छोड़ा न था।

"उसने मुझसे पहली वात यह की थी कि मनीला में उसके ही घर में उसकी तीन रखैलें रहती हैं और वहीं वनी रहेंगी। वहां पहुंचकर कहीं मुझे धक्का न लगे इसीलिए पहले ही दिन वताना ठीक समझा। मैंने तड़पकर पूछा था कि मुझसे शादी क्यों की ? तो कहने लगा मेरे

के न थे। हीरे, रूबीज, सफेद गुच्छे मोती, एमरल्ड और एमेथिस्ट का एक मेला-सा था। कानपुर से गाड़ी अभी दस-बीस मील ही दूर पहुंची थी कि उसकी सीट के नीचे से एक नंग-धड़ंग काला भारी भरकम शरीर वाला चोर बाहर निकला। दोनों सहेलियां बच्चों को उठाकर गुसलखाने में भाग गईं। जब तक गाड़ी की चैन खिंची, गार्ड आदि आए चोर सब कुछ उठाकर जंगल में गायब हो चुका था।

घबराकर वह अगले ही स्टेशन पर उतर गई थीं। स्टेशन मास्टर द्वारा बीबी से फोन पर बात की, वह आध-पौने घंटे में ही अपने एक मित्र के साथ वहां पहुंच गया था। पुलिस में रिपोर्ट लिखवाई गई तो थानेदार साहब बोले थे, "अरे यह मेम साहब तो उस अंग्रेज बाबू के साथ हर हफ्ते यहां के डाक बंगले में आती थीं।"

बीबी ने उसके पीले पड़े चेहरे को देखा था, बिना एक शब्द बोले, बिना एक प्रश्न पूछे, उसे पुलिस स्टेशन ही छोड़कर कानपुर लौट गया था।

उससे सच्ची बात पूछने का मुझे मौका नहीं मिला। एक दिन सप्रू हाउस में एक नाटक के मध्यान्तर में मैंने उसे अपनी लाइन में बैठे देखा। वही इकहरा बदन, मस्ती-भरी आंखें, तंग सलवार और सैक-कमीज, साथ एक एंग्लो इंडियन नव युवक। मिलने के वायदे हुए। अक्सर मैं उसे किसी स्कूटर के पीछे हवा में उड़ते हुए देखती, कभी-कभी किसी और युवक के साथ भागती हुई कार में। उसने बताया था कि बच्चे नैनीताल में किसी बोर्डिंग में पढ़ते हैं, बीबी दिल्ली में ही है पर मुलाकात का सवाल ही नहीं उठता और वह स्वयं एक ट्रैवेल एजेंसी में काम करती है। एक दिन मैं उसे मिलने गई भी।

"वह लंच पर बाहर गई है।"

कई बार सुबह फोन किया।

"सो रही है।"

शाम को भी।

"बाहर गई है।"

एक ही शहर में रहते हुए हम मिल ही न सके और मैं असलियत

तीन-चार साल लग गए। इस बीच पढ़ाई भी खत्म हो गई, मेरी भी शादी हो गई। उसके पत्र मुझे वरावर आते। एक पत्र में उसने लिखा कि पहली जनवरी को वौवी और उसकी शादी हो रही है। जीवन में किसी औरत को जो कुछ भी चाहिए वह सब वौवी के पास था, फिर वह तो उसे वरसों से प्रेम करता था।

एक साल वाद हम लोग पटियाला में मिले तो उसकी गोद में उससे भी अधिक सुन्दर एक वच्ची थी। दोनों खुशी से पागल थे। उसके वाद तवादलों के चक्कर में हम पांच-छ: साल नहीं मिल सके और जव मिले तो वह काफी हद तक मर चुकी थी।

आज दस साल वीत जाने पर भी वह मुझे हर रोज याद आती है। दफ्तर जाते और घर लौटते समय मुझे उसकी मां की भव्य कोठी के सामने से गुजरना पड़ता है। हर वार, दिन में दो वार—मेरा मन आत्मग्लानि से भर उठता है। उसकी शक्ल दिन में दो वार मेरी आंखों के सामने घूम जाती है। उसे जिन्दगी से कितना प्यार था पर वह जीवित नहीं है। उसकी विगड़ती हालत देखकर मुझे शक ज़रूर हुआ था कि उसका जीवन सामान्य नहीं है। एक वार जल्दी-जल्दी में मुलाकात हुई तो उसने वताया था कि वौवी की वदली अव दिल्ली हो गई है। पर वौवी कहां है? "दौरे पर गया है।" वौवी के वारे में यही उत्तर मैंने आगामी चार महीने तक सुना तो मैंने उससे कहा था—"सुन, तू झूठ वोल रही है। वता वौवी कहां है?"

उसने टाल दिया था। अगर मैं जिद्द करती, सहानुभूति भरा हाथ वढ़ाती तो शायद वह किसी और दिशा की ओर मुड़ जाती। शायद वह इस कद्र न भटकती, अपना दुख मुझसे वांट लेती तो उसका अन्त इतनी जल्दी न होता।

लोगों से उसके वारे में वहुत वातें सुनी थीं। पहले भी और वाद में भी। पर एक वात ने मुझे वुरी तरह से चौंका दिया था।

वौवी की वदली दिल्ली हुई तो वह अपनी वच्ची और एक सहेली के साथ सामान लेकर पहले ही दिल्ली के लिए रवाना हो गई थी। उसके पर्स में उसके सभी आभूषण थे, और वह आभूषण भी कोई आम किस्म

के न थे। हीरे, रूबीज, सफेद सुच्चे मोती, एमरल्ड और एमेथिस्ट का एक मेला-सा था। कानपुर से गाडी अभी दस-बीस मील ही दूर पहुँची थी कि उसकी सीट के नीचे से एक नंग-धड़ग काला भारी भरकम शरीर वाला चोर बाहर निकला। दोनों सहेलियाँ बच्ची को उठाकर गुसलखाने में भाग गईं। जब तक गाडी की चैन खिची, गार्ड आदि आए चोर सब कुछ उठाकर जंगल में गायब हो चुका था।

घबराकर वह अगले ही स्टेशन पर उतर गई थी। स्टेशन मास्टर द्वारा बीबी से फोन पर बात की, वह आध-पौने घंटे में ही अपने एक मित्र के साथ वहां पहुंच गया था। पुलिस में रिपोर्ट लिखवाई गई तो थानेदार साहब बोले थे, "अरे यह मेम साहब तो उस अंग्रेज बाबू के साथ हर हफ्ते यहा के डाक बंगले मे आती थी।"

बीबी ने उसके पीले पड़े चेहरे को देखा था, बिना एक शब्द बोले, बिना एक प्रश्न पूछे, उसे पुलिस स्टेशन ही छोड़कर कानपुर लौट गया था।

उससे सच्ची बात पूछने का मुझे मौका नही मिला। एक दिन सप्रू हाउस में एक नाटक के मध्यान्तर मे मैंने उसे अपनी लाइन में बैठे देखा। वही इकहरा बदन, मस्ती-भरी आँखें, तंग सलवार और सैक-कमीज, साथ एक एंग्लो इंडियन नव युवक। मिलने के वायदे हुए। अक्सर मैं उसे किसी स्कूटर के पीछे हवा मे उड़ते हुए देखती, कभी-कभी किसी और युवक के साथ भागती हुई कार में। उसने बताया था कि बच्ची नैनीताल में किसी बोर्डिंग में पढ़ती है, बीबी दिल्ली में ही है पर मुलाकात का सवाल ही नही उठता और वह स्वयं एक ट्रैवेल एजेंसी में काम करती है। एक दिन मैं उसे मिलने गई भी।

"वह लंच पर बाहर गई है।"

कई बार सुबह फोन किया।

"सो रही है।"

शाम को भी।

"बाहर गई है।"

एक ही शहर मे रहते हुए हम मिल ही न सके और मैं अमलिया

भी पता न कर सकी। एक शाम होली फैमली अस्पताल की सीढ़ियां उतरते हुए मुझे उसकी सबसे छोटी मौसी मिलीं। वह हमारी हमउम्र और काफी दोस्त थीं। मुझे देखकर वह ठिठकी और बोली—"कल सुबह वह चल बसी।"

"अखबार में नहीं देखा।" कहकर मैं झेंप गई, मानो मैं सुबह उठकर मरने वालों के ही नाम अखबार में पढ़ती हूं, या जैसे यह कोई बहुत बड़ी घटना या दुर्घटना हो।

"पर कैसे ? क्या हुआ उसे ?"

"बस सुबह उठे तो वह नहीं थी। नींद की गोलियां तो वह दो साल से ले रही थी। डाक्टर ने उसे और हमें कई बार चेतावनी दी थी। उसने कहा भी था कि एक दिन वह सोई ही रह जाएगी।"

ठीक वैसे ही हुआ। कई रातों तक मैं सो न सकी। आंखें बन्द करती तो उसका मासूम चेहरा मेरी आंखों के आगे आकर टिक जाता। उसकी मौत में काफी हद तक मेरा भी तो हाथ था। मैंने कहा न मुझे हर रोज दिन में दो बार उसकी कोठी के आगे से गुजरना पड़ता है। शायद आत्म-ग्लानि और पाप, बीत गए समय का भय ही तो होता है। पर किसी भ दोषी को आसानी से छुटकारा नहीं मिल सकता, पर फिर सोचती उसके रहते अगर मैं कुछ करती—कुछ भी—तो शायद मुझे इस याद को हर रोज सहना न पड़ता। या फिर शायद हमारा बनाया हुआ दा टूटता ही न।

बन्द मुट्ठी पर टिकी नज़रें

"सुनो, यह फ्रीडम एट मिड नाइट किसने लिखी है ?"

"लारी और दोमनिक।" मेरी आंखों में चमक आ गई थी मानो इन दोनों से मेरा गहरा रिश्ता हो।

"कौन हैं ?"

"हैं दो फ्रांसीसी—अमरीकी लड़के, पहले भी, इनकी दो किताबों ने कई नदियों में आग लगाई है पर इस···" कहते-कहते मैं रुक गई। अचानक मुझे ख्याल आया—मैं यह सब क्यों कह रही हूं। उसका ध्यान तो कहीं और था। उसके साथ हमेशा ऐसे ही होता है। बात सुनते-सुनते सहसा उसका ध्यान कहीं-न-कहीं जरूर बहक जाता है और साथ-ही-साथ यह बहकावा उसके चेहरे पर बेतहाशा अंकित हो जाता है—इस हद तक कि बात करते-करते दूसरा व्यक्ति दुखी हो उठे। मैंने खुद पर लानत भेजी।

मैंने क्यों सोचा कि इस पुस्तक के आलोक में आधी रात आई आजादी की शक्ल, इतिहास के उस निर्णायक क्षण में सक्रिय शक्तियों व प्रवृत्तियों की व्याख्या मैं एक बार फिर कर सकती हूं ? महीना-भर पहले जब मैंने इस पुस्तक पर एक मोटी रकम व्यय की थी तो मैं फिल्मों की शैली में एक के बाद एक गुजरते दृश्य, मूल कथा के साथ जुड़ी मसालेदार उपकथाओं का वर्णन सबसे बांटना चाहती थी। सबको सुनाना चाहती थी। वैसे भी किस्सागोई में जो सुख मिलता है वह और किसी प्रकार के मनोरंजन में मुझे नहीं मिलता। आदत से मजबूर इसे भी मैंने कुछ किस्से सुनाए थे, जिन्हें सुनकर पहले तो वह चकित रह गई थी फिर मुझसे

ा था कि वह भी इस किताब को जरूर पढ़ेगी । वैसे उसका
ह जाना अपने में कोई विशेष घटना न थी । यह दस्तावेज तो पढ़ने
लों को चकित करने के लिए ही लिखा गया था । पर यह एकाएक
त इतनी विचलित क्यों हो गई है ? जाहिर है किताब तो इसने
पढ़ी नहीं है । और जो भी मसालेदार प्रसंग इसे मैंने सुनाए थे उन्हें
कब का भूल चुकी होगी ।

"तुमने फ्रीडम एट मिडनाइट के लेखकों के नाम क्यों पूछे ? किता
ली तुमने ?"

"नहीं," इस नहीं में अथाह निरीहता भरी हुई थी मानो इस कारण
उसकी मौत उसके सामने खड़ी है । थोड़ा ठिठककर मेरे पहले प्रश्न का
भी उत्तर उसने दिया था, "उनके हाथ में थी ।"

"कब ?" वह किसका जिक्र कर रही थी मैं समझ गई थी ।

"अभी-अभी," बड़ा अटपटा-सा लगा था मुझे । उसे किताब से कुछ
लेना-देना नहीं था । पर वह किताब क्योंकि उनके हाथ में थी, इसलिए उस
किताब का वजूद बढ़ गया था । मुझे एक घिसे-पिटे पर लोकप्रिय पंजाबी
टप्पे की एक पंक्ति याद आ गई—

"साडे नालों वटन चंगे जेड़े छाती नाल लाए होए ने ।"

वे हमारे विभाग के उप संचालक थे । उनके हाथ में वह नव प्रकाशित
क ही क्यों, सभी कुछ था । हाथ में ही नहीं, बन्द मुट्ठी में सब कुछ था,
त खोलकर वह जो चाहे दे दें, जितना चाहे उतना दे दें । इस महान्
शक्तिशाली व्यक्ति पर उसकी ही क्यों कइयों की नज़रें टिकी थीं । जो
सकते हैं उनसे न लेना भी तो एक पाप है । मैं तो इस विभाग में नई
नई आई थी, पर बहुत जल्दी ही समझ गई थी कि वातावरण
झूठापन पूरी तरह छाया हुआ है । मानवता और अमानवता के इतने
ढेर में से मुझे हमेशा की तरह बहुत कम लोग भाए थे । उनमें से एक
भी थी । इसका सबसे बड़ा गुण था सम्पूर्ण अनभिज्ञता । पर मन
सच्ची, साफ, अपने काम में तटस्थ और स्नेहमयी । न जाने क्यों ए
मुझे लगा था कि वह अपनी आंखों से एक बांध बनाना चाह
पर नदी का बहाव रोकना अब उसके बस का न रहा था और

े अपने कारावास

जान-बूझकर अनभिज्ञ बनी बैठी थी। हकीकत की खबर वैसे तो दफ्तर में सभी को थी पर अभी तक एक रखरखाव, चाहे हल्का-सा ही बना हुआ था। अपनी जिन्दगी के किसी एक मोड़ पर पहुँचकर उसने एक हमराज खोज निकाला था, जो उसका अफसर भी था। एक बहुत ही शक्तिशाली अफसर, जिसके बारे में अब यह मशहूर हो चुका था कि उसकी आंख का उठना या गिरना किसी की भी किस्मत बना या बिगाड़ सकता है। स्वयं, पिछले चन्द वर्षों में सफलता की नई परिभाषाएं तो वह लिख ही चुका था, पर साथ-ही-साथ धीमे-धीमे अपने आसपास के कार्यकर्ताओं को यह भी सिखा रहा था कि स्याह को सफेद कैसे बनाया जाता है, सही को गलत कैसे करार किया जाता है, जो झुक जाए वह सही व्यक्ति होता है जो न झुके उसे कैसे तोड़ा जाता है। यह सब वह बिना कहे, चुपके-चुपके ऐसे कर रहा था कि जिसे जरूरत है वह आंखें बन्द रखे जिसे नहीं जरूरत वह अपना रास्ता खुद ढूंढ निकाले। दफ्तर में ज्यादातर लोग उसकी इज्जत कम करते उससे रश्क ज्यादा। पर इज्जत करने का दिखावा सभी करते, डरते सभी थे। कब किस हालत में वह किस को आसमान पर बैठा सकता है और कब अपने परों तले रौंद सकता है, यह सब इसी पर निर्भर करता था कि कौन कितना दिखावा कर रहा है। पर उसके लिए इसका इतना पागल हो जाना अपने-आप में एक अजीब बात थी और अब तो दबे स्वरों में ही सही, चर्चा का विषय बन चुकी थी। यह कैसी मृगतृष्णा थी, कैसा आवेश था, कैसा दृढ़ आग्रह था। एक पुरुष के लिए एक नारी की यह कैसी तीव्रता थी। एकाग्र-भूत से ग्रस्त प्रेम कहानी ने कैसा यातनापूर्ण रास्ता अपना लिया था। यह एक ऐसी प्रेम कहानी थी जिसमें न तो कोई वास्तविकता थी और न ही कोई उत्कटता, शायद कोई निजी मतलब था जिसके ऊपर प्रेम का आवरण ओढ़कर उसे अपनाने की विफल कोशिश की जा रही थी।

हम दोनों आमने-सामने बैठकर स्थिति को समझने की कोशिश कर रही थीं, अपनी-अपनी समझ के मुताबिक। उस दीवानी की आंखों में भरी अथाह और सच्ची पीड़ा को महसूस करते ही बरबस मुझे प्रसिद्ध उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो की बेटी अडेल की याद आ गई।

अडैल की बहन की मौत हुई, उसका चित्त व्यथित रहता, बार-
के प्रेत से उसकी भेंट होती। उसी विक्षिप्तता की हालत में वह
फौजी पिनसन के पीछे-पीछे नौवास्कोटिया चली गई थी।
की खातिर वह अपनी मंगनी तोड़कर बन्धनमुक्त हो चुकी थी।
कतरफा प्रेम से बौखलाकर, बिना किसी प्रकार का दुख मनाए,
न कैनाडा चला गया था, बिना अडैल के। अडैल भी उसका पीछा
ी हुई हैलीफैक्स पहुंच गई थी। तब तक वह पूरी तरह से प्रेतग्रस्त
चुकी थी। जब वह पिनसन को मिली तो पहले मिन्नत की फिर हार-
र धमकियां दीं, उसके बाद उसने अपने धन-दौलत से उसके कर्ज उतारने
ा भी लालच दिया।

पिनसन तो राजी नहीं हुआ था पर सदा से कर्ज़दार यह जरूर राजी हो गया था। वैसे तो जो कर्ज़ लेता है उसकी मदद कौन कर सकता है। पर फिर भी जो अनन्तरित संकट उस समय उसके सिर पर पहाड़ की तरह टूट पड़ा था वह इसने अपने बचाए हुए रुपयों से जरूर टलवा दिया था। उन दिनों इसका प्रेम चरम सीमा तक पहुंच गया था। इसे लगा था अब यह बेशक मेरी जमा पूंजी न लौटाए, पर स्वयं को तो मेरे लिए सुरक्षित रखे। कब कौन उसे मिलने ऊपर गया या गई और कब तक ऊपर उसके कमरे में रुकी या रुका, इस सबका ब्यौरा वह अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे बड़े ही रहस्यमय ढंग से इकट्ठा करती रहती। पर अनजाने ही उसकी आश्वस्तता अशान्ति व्याकुलता में बदलने वाली थी।

वह अपनी चपलमति के सहारे एक अनूठे काल्पनिक संसार में जी
रही थी—बिल्कुल अडैल की तरह। अडैल ने भी मन की तरंग में डूबकर
एक बार अपने पिता को लिखा था कि उसका विवाह पिनसन से हो गय
है। अडैल ने एक बार लाचार होकर सोचा था कि किसी मोहनविद्या
जानने वाले को बुलाकर क्यों न पिनसन को जैसे-तैसे मोह निद्र
अचेत करके समर्पण के लिए तैयार किया जाए।

समर्पण, पूर्ण समर्पण ही इसकी भी मांग थी। अपनी तरफ से त
ही-मन पूर्ण रूप से समर्पित थी ही, अब तो इन्तजार यह था कि
ओर से बराबर की चोट हो। चोट तो हुई मगर वह इसकी मन

ने अपने कारावास

न थी।

एक दिन न जाने कहां से एक युवा लड़की, एकदम भीरु, निरीह, असहाय-सी, दृश्य पर उत्तीर्ण हुई और सब कुछ यानोन्माद में भरपूर दुःस्वप्न में बदल गया। वह युवती एक बुखार की तरह आई और सबकी जान के लिए खतरा बन गई। वह दफ्तर के काम से बचा अतिरिक्त समय उसी के साथ व्यतीत करती। उसकी यह विशेषता बेशक एक मनक-कारी रूप अपना चुकी थी पर कलक विलम्बित लय में प्रसारित किया जा रहा था। प्रसारण करने वाले सभी डरपोक थे। अपना अपमान सहकर सब स्वयं को सुरक्षित रखना चाहते थे।

पर यह जो खोलकर अपना दुख और पीड़ा व्यक्त करती। पहले अगर सबको इतना हक था कि वह आकर इससे यह कह सकें, "आप तो उनकी चहेती हैं, आप कुछ भी करवा सकती हैं।" तो आज उन लोगों को यह भी हक था कि कह सकें—"आपका तो सब कुछ लुट रहा है…" इस तरह की बातें, और इसका पागलपन भट्ठी में उष्णता बढ़ाने का केवल एक साधन थी। क्यों था यह पागलपन? इसका उत्तर केवल यह ही दे सकती थी। पर क्यों देती? उसने तो उन्नीसवीं शताब्दी की असभव कल्पना को उदाहरण मानकर भयानक रूप में अपने जीवन का रूपांतर कर लिया था। वही पुरुष जो कभी द्वार के बीचोंबीच पल-भर के लिए रुककर धीमे से मुस्कराने भर का आभासमात्र देता था, उसके लिए कमरे में कलियां बिखेर जाता था, अब भी उसी कमरे में आता है, उसी द्वार पर खड़ा होता है, पर आंखों में तिरस्कारयुक्त उदासीनता लिए हुए। आजकल वह जब-जब उस कमरे में आया वह बेहद तटस्थ रहा, अप्रसन्नता, और कभी-कभी, घृणा की भावना के अतिरिक्त और कुछ भी व्यक्त न कर पाया। उसकी आंखों में विरोध और संदिग्धता की एक अजीब-सी चमक होती, मानो यह सब कुछ जान-बूझकर ओढ़ा गया है, कुछ छुपाने के लिए, मानो वह एक पुरुष नहीं, एक ऐसा पदार्थ हो जो केवल उन्माद को ही जन्म दे सकता है।

और यह पगली इस समय पूर्ण यातना में डूबी सोच रही है कि ऐसी कौन-सी चोट की जाए कि वह बाजी जीत जाए। उसका चेहरा कितना कोमल, कितना भावुक है और कुछ-कुछ तृप्त भी। शायद अगर वह इतने

में न आती तो उसकी हालत इतनी दयनीय न होती, इतनी विषाद-
न होती ।

"मुझे तो एक ही वात समझ नहीं आती ।"

"क्या ?"

"उसे उस वदसूरत-सी वर्फ की ढेर से क्या मिलता है ?"

अभी भी वह उसकी वापसी चाहती थी, किसी भी कीमत पर, किसी
भी मात्रा में ।

"सचमुच जानना चाहती हो ?"

"हां, है क्या उसके पास ? क्या दे सकती है वह उसे ?"

"दो चीज़ें ?" वह वाज़ की तरह हवा में झपटी थी । वस पता लग
जाए, वह जरूर छीन लेगी उससे वह दोनों चीज़ें, "और वह दो चीज़ें
ऐसी हैं जो तुम उसे कभी नहीं दे सकतीं, यौवन और समय । दफ्तर के
वाद क्या तुम देर रात तक उसके साथ घूम सकती हो और वह भी वसों
में ? अपने पति को कह सकती हो आज की रात मैं उसके साथ विता
रही हूं ?"

"फिर भी वह उसे कुछ नहीं दे सकती है, वह तो खुद भिखारिन
है ?"

"सुनो, वह अव युवक नहीं है, नहीं न, मानती हो न। उसके दोस्त भ
उसकी ही तरह ढल चुके हैं, जरा सोचो, इस उम्र में एक जवान लड़की
वक्त उसके साथ हो तो दोस्तों में इज्जत वढ़ जाती है। तुम मेरी मानो
इस सम्मोहन को अव तोड़ डालो, तुम्हें इस हालत में पहुंचाकर वह वि
निरापद और निर्लिप्त वन गया है ।"

"पर अव यह भी तो मुमकिन नहीं कि मैं वैठकर शांति पा
रहूं ।" उसने अपनी लाचारी व्यक्त की । चोट गहरी लगी थी ।

मुझे लगा कि यह जीवन भर, वहुत ज्यादा छोटी पड़ गई सं
को अपने अन्दर समेटे, यातनाओं के अन्धेरे में सफर करती रहे
आकाश के नीचे, ऊपर से वेशक पथराव होता रहे और वह इ
प्रेम से वौखलाकर मौका पाकर पिनसन की तरह, विना को
कहीं और चला जाएगा. इन दोनों को छोड़कर ।

संग तराशा झूठ

जून की तपती-तपाती शाम, जी चाहता था कि कपड़े उतार, पूल में घुस जाएं और तब तक न निकलें जब तक शीतलता का आभास हवा में न तैरने लगे। या फिर यह बस ही चल पड़े। कुछ तो राहत मिले। गन्दगी, धूल-कूड़ा कर्कट, लिसलिसापन, इस बस अड्डे पर तीन करोड़ रुपये क्या इसलिए व्यय किए गए थे कि बेचारे यात्री इस मलिनता के ढेर का सूक्ष्म निरीक्षण करें, और कुछ करने-देखने-सुनने को था भी तो नहीं। हमें सारी रात इस बस में सफर करना है। अगर यह बस यहां से चल पड़ी तो ...मुझे लगा कश्मीरी गेट से निकलने के बाद भी यहां की कर्कश तीव्र आवाज़ें मेरे कानों में गूंजती रहेंगी। शुरुआत अच्छी नहीं हुई थी। बेशक मैं अपने चेहरे पर एक भी शिकन न उभरने दे रही थी। दस साल के लम्बे अन्तराल के बाद मैं गोपाल के साथ भ्रमण के लिए निकली थी। एक मूक समझौता मैंने स्वयं से किया था। अब के इन दस दिनों की छुट्टियों में और लौटने के बाद किसी भी कीमत पर किसी भी तरह मुझे गोपाल के साथ एक नई भागिता का निर्माण करना है। बहुत साल वहम लिया, कुछ भी हाथ न लगा, अब इन दस दिनों में मैं एक ऐसी जाल बुनूंगी जो पुरानी औरतें बुनती थीं। किसी भी मुंह से एक भी गन्दा शब्द नहीं बोलना और करनी अपने मन की। पहले मुझे लगता था यह तो सरासर बेईमानी है। जो मन में है, कह दो, होना है विस्फोट तो होने दो, पर क्या फायदा हुआ ...स्नेहपात्र बनने बनाने की ठानी थी मैंने। पर शुरुआत घिनौने फूहड़पन में रंगे स्थान से हो रही थी।

पचास पैसे के बदले में बस की छत पर सामान रखने वाले कई कुली

। दूसरी बसों पर सामान चढ़ा भी रहे थे, पर कोई भी ह
मान रखने को तैयार न था। बस अभी आएंगे कहकर हमें
थे। एक बार सामान ठिकाने लग जाए तो कहीं टहला भी जा
। कम-से-कम पंखे के नीचे तो सरका ही जा सकता है। एकाएक
क कुली हमारी बस की ओर आ रहा है। "सुनो अब के यह नज-
ाए तो गरदन से पकड़ लेना।" न वह नजदीक आया न ही गोपाल
बुलाने की कोई विशेष कोशिश की। गरदन से तो वह उसे वैसे भी
कड़ता। इतना ठंडापन भी किस काम का। कुछ तो हरकत होनी ही
हिए। गोपाल मुझे आंखों-ही-आंखों से सान्त्वना दे रहा था और मन-ही-
न सोच रहा था बाज नहीं आएगी, यह झगड़ेगी ज़रूर, किसी-न-किसी
, किसी भी बात पर।

उम्मीद तो नहीं थी पर फिर भी बस ग्रैण्ड ट्रंक रोड पर चल ही निकली थी। यह मैंने पक्का फैसला कर लिया था कि पानीपत से एक मील पहले जो खेत है उस ओर न तो देखूंगी और न ही वहां पहुंचने तक आंखों में आंसू आने दूंगी। उस खेत के किनारे जो बरगद का पेड़ है, उसी से मेरे पिता की कार पच्चीस साल पहले आज के ही दिन टकराई थी। उस टक्कर का नतीजा इतना भयंकर होगा यह किसी ने न सोचा था। आधी रात को छोटी बहन ने पानीपत अस्पताल से फोन किया था, "एक्सीडेन्ट हो गया है। हम सब अस्पताल में हैं। पिताजी के लिए डाक्टर और अलग से डी एल जैड टैक्सी लेकर पहुंचा। घबराने की कोई बात नहीं।" घबराने की बात थी। मैं, डाक्टर डो, और डा० महाजन एक बड़ी टैक्सी और अपनी मोटर समेत पानीपत पहुंची तो चारों बहनें, मां, चाचा और रतनसिंह, हमारा ड्राइवर, चारपाइयों पर एक लाइन में पड़े थे। पिताजी की चारपाई अलग रखी थी। वह बेहोश थे और पांच दिन बाद बेहोशी में ही चल बसे थे पर मैंने उन्हें कभी मरा हुआ नहीं माना। वह सदा मेरे सपनों में आ हैं। एक जिन्दा आदमी की तरह मुझसे बातें करते हैं। जागते में भी कहीं मेरे आस-पास हर वक्त मंडराते रहते हैं। पांचवीं बहन के जन्म मुझे अलग कमरे में ले जाकर उन्होंने मुझे सूचना दी थी, "आज से मेरा बेटा है।" और बेटे कहीं रोते हैं भला? पता नहीं क्यों पर इस

से वाक्य ने मुझ पर ऐसा प्रभाव छोड़ा था कि मुझे लगता—मैं बहुत जिम्मेदार व्यक्ति हूं। एक शक्तिशाली पुरुष की नाईं मैं किसी-न-किसी से वजह-बेवजह उलझती-झगड़ती रही हूं, विरोध करती रही हूं। विरोध करना तो अब मेरी आदत-सी बन गई है। मुझे बेटा बनाने-मानने वाला पिता तो न रहा पर बेटा बनने की चाह पूरी करने का शायद कोई दूसरा रास्ता मुझे सूझा ही नहीं। बेशक ऐसा अनजाने में ही हुआ—पर हुआ जरूर !

पानीपत से एक मील पहले, उस बरगद के पेड़ तक पहुंचने से बहुत पहले, मुझे तीन बार अपनी आंखें बन्द करनी पड़ीं, मुंह से तीन बार एक तीखी हाय निकली, तीन बार मैंने गोपाल की बांह में अपने नाखून गाड़ दिए और तीन बार गोपाल ने मेरे हाथ सहानुभूति से थपथपाए। वह जानता था कि उस बरगद के पेड़ तक पहुंचते-पहुंचते मैं अन्दर-ही-अन्दर बुरी तरह से बिखर जाऊंगी, सफर के शुरू में ही तीन भयंकर सड़क दुर्घटनाएं देखने को मिली थीं। हे भगवान, आज कितनों के घर उजड़े होंगे। क्यों होते हैं ऐसे आकस्मिक आक्रमण, आज कितनी माएं रात-भर किवाड़ पर खड़ी रहेंगी, कैसे सहेंगी यह प्रहार, यह आघात। लाशों की ढेर और उनके पीछे आहत लेटे मेरे पिताजी सब कुछ गड्डमड्ड हो रहा था। मैं क्यों आई इस सड़क पर, एक बार फिर से अपने घाव हरे करने के लिए। हमें रेलगाड़ी में सफर करना चाहिए था। यह सड़क ही मनहूस है। इस सड़क पर यातायात बन्द कर देना चाहिए। शाम सात बजे पानीपत बस अड्डे पर हमारी बस पन्द्रह मिनट रुकी। जब यात्री लौटे तो ड्राइवर की बगल वाली सीट पर भगवे कपड़े पहने एक लम्बा-ऊंचा काले स्याह रंग के बावजूद चमकता-दमकता एक बाबा विराजमान था। एक व्यक्ति ने बड़ी विनम्रता से कहा, "बाबाजी यह मेरी सीट है।"

"होगी, होगी। मैं तो संसद सदस्य हूं, पहचानते नहीं मुझे, निपढ खुर्द का बाबा हूं।"

"आप अगर संसद सदस्य हैं महाराज तो मैं भी मंत्री हूं, केन्द्रीय सरकार में। लगता है आपने भी मुझे पहचाना नहीं।"

बाबाजी बावजूद इस धमकी के डटे रहे।

'संसद सदस्यों के लिए यह सीट सुरक्षित है। और आप कोई मंत्री-नहीं हैं।"

"अच्छा महाराज आप अपना प्रमाणपत्र दिखाएं कि आप संसद स्य हैं तो मैं भी आपको दिखाता हूं कि मैं मंत्री हूं या नहीं।"

प्रमाणपत्र होता तो वावाजी दिखाते। खिसियाते हुए उठ गए। वोले, आप भी जनता के सेवक हैं और मैं भी, चलिए, आप ही वैठ जाइए।"

"क्यों नहीं वैठूंगा, टिकट खरीदकर सफर कर रहा हूं।"

वात यहां खत्म हो जानी चाहिए थी। पहले तो वावाजी ने ऐसा ही फैसला किया लगता था, पर शायद ज्यादा देर तक उनके अहं को लगी चोट सह न सके। कंडक्टर की पीठ पर वड़े याराना अन्दाज में हाथ रख-कर वोले, "सीट का इन्तजाम कर दो।"

देर तक दोनों कुछ फुसफुसाते रहे। फिर वावा जी ने वस में चहल-कदमी शुरू कर दी। हम लोगों के आगे दो युवक वैठे थे। उनका एक साथी दाईं ओर की सीट पर वैठा था। तीसरे साथी ने जैसे ही थोड़ा झुक-कर अपने मित्रों से पानी की वोतल मांगी। वावाजी गिद्ध की तरह झपट-कर उस युवक द्वारा खाली की गई डेढ़ इंच जगह पर विराज गए। लड़के ने जल्दी से घूमकर हाथ जोड़कर कहा, "यहां नहीं, पहले ही तीन व्यक्ति वैठे हैं।" उसने धक्का तो नहीं दिया था पर फिर भी कम जगह होने के कारण वावाजी सीट पर जमे न रह सके। सीट न पा सकने का सन्ताप अव वावाजी के लिए असहनीय वन चुका था। पलटकर वोले, "वच्च कहां जा रहे हो।"

"शिमला।"

"पहुंचोगे नहीं।" वावाजी ने अपना शाप घोपित किया। व सन्नाटा-सा छा गया। क्यों वेचारे लड़के को अप्रिय कह रहे हैं। लड़का था, तैश में आता नजर आ रहा था। वावाजी ने आगे अपने श विवरण दिया, "वस अभी करवाता हूं, वस का एक्सीडेन्ट। तू चल। शिमले तो तू पहुंचने वाला नहीं। वस अम्वाला आने दे तेरा एक्सीडेन्ट करवाता हूं नहीं तो अम्वाला पहुंचकर दफा 103 करवाता हूं। पूरे तीन दिन तक अन्दर रहेगा तो ढूंढ़ियो अपनी स

ने अपने कारावास

तो फिर एक्सीडेन्ट ही करवाता हूं।" कहकर बाबाजी ने अपने टैरीलीन के बने भगवे कुरते से जो अदृश्य राख झाड़नी शुरू की तो सबकी सांसें रुक गईं। लड़का खड़ा होने वाला था, न जाने क्यों मुझसे रहा न गया। जवान गर्म खून है क्या फायदा उलझने का। मैंने झुककर उस लड़के के कन्धे पर हाथ रखा और सलाह दी इगनौर हिम। मुझे लगा शायद बाबाजी से उलझना ठीक न था,शायद कुछ देर बक कर चुप हो जाएगा। युवक ने मेरी बात मान ली। वह खिड़की के बाहर ताकने लगा था। बाकी के लोग सहमे डरे बैठे थे। चुप-चाप। बाबाजी अपना रोब पुनः स्थापित करने के लिए अपने हाथ फिर से अपने कुरते पर फेर रहे थे। जान-बूझकर या अनजाने में या फिर नियमानुसार कंडक्टर ने एक बटन दबाकर अम्बाले की ओर भागती बस की रोशनी गुल कर दी थी।

हठपूर्वक बाबाजी फिर शुरू हो गए थे।

"अव्वल तो अम्बाला तू पहुंचेगा ही नहीं। उससे बहुत पहले करवा दूंगा तेरी छुट्टी मैं। बच्चा, जब दो चार घूंसे लातें पड़ेंगी तब जानेगा तू मुझे। बस देख अभी करवाता हू तेरा एक्सीडेन्ट···या फिर···" "बाबा-जी···" अपनी ही चीत्कार सुनकर मैं स्वयं विस्मित हो उठी थी, "क्यों आप बार-बार एक्सीडेन्ट की बात कर रहे हैं, क्या अकेले इस लड़के का एक्सीडेन्ट करवाने जा रहे हैं···" कहते-कहते मैं फूट-फूटकर रोने लगी। बत्ती जलने से पहले मेरी हिचकी बंध गई थी, ड्राइवर ने बस काफी धीमे कर दी थी और बार-बार पीछे मुड़कर देख रहा था। बाबाजी भी काफी विचलित से लग रहे थे। पचास-साठ जोड़ी आंखें मुझ पर टिकी थीं। गोपाल ने अपना हाथ मेरे कंधे पर रख दिया था। "बस में बच्चे बैठे हैं, औरतें बैठी हैं। आप कब से सबको डरा रहे हैं। मतलब क्या है आपका··· एक सीट के लिए आप हमारी जान ले लेना चाहते हैं···" यह सब मैंने कहा जरूर था पर फूट-फूटकर रोते-रोते। आगे वाली सीट के दोनो लड़के खड़े हो गए थे और बस के सभी यात्री जो अब तक मन्द गति से, मूर्छित से बाबाजी की अरोचक बातें चुपचाप सुन रहे थे, अपनी सीटों से चिल्लाने लगे थे।

"मारो साले को।"

ार दो इसे नीचे।"
स रोककर वाहर फेंक दो।"
हीं से एक मृदु स्वर भी उभरा था। "भाई साहव इन्हें तो चुप
। वेचारी कैसे रो रही हैं।" कंडक्टर ड्राइवर एक-दूसरे से आंखों-
में सलाह-मश्वरा कर रहे थे। ऐसा लगा जैसे वस में एकाएक तेज़
द भर गया है और विस्फोट होने में कुछ ही पल की देर है। झटके से
रुकी। ड्राइवर ने जो कि एक जवान सरदार था, वावाजी को वांह से
ड़ा, एक थप्पड़ रसीद किया और यह कहता हुआ, "साले मेरी वस का
क्सीडेन्ट करवाएगा।" उसे घसीटता हुआ वाहर ले गया। वाहर धुप्प
ंधेरा था। पर हम लोग अन्दर वैठे देख रहे थे कि ड्राइवर और कंडक्टर
वावाजी पर वार-वार प्रहार कर रहे थे। वावाजी ने खूव शराव पी रखी
थी। लड़खड़ाते पांव से जमीन से उठने से पहले ही दूसरे धक्के से फिर
गिर जाते। आस-पास छोटी-छोटी खाइयां थीं जिन में वावाजी वार-वार
गिर रहे थे। वड़ी निर्दयता से मार पड़ रही थी। एक पल को लगा, वावा
संहार हो रहा है। कुछ लोग वस से उतरकर घेरा वनाकर खड़े हो गए
थे। न जाने क्या वात हुई कि लहू-लुहान व.वाजी को ड्राइवर ने धकेल-
कर फिर से वस में फेंक दिया। वावाजी की ऐनक उनके चेहरे से गायव
थी। दाईं वांह से धाराप्रवाह खून वह रहा था। वह वस में आकर एक
सीट का हैंडल पकड़कर सीधे खड़े हो गए। मानो कुछ हुआ ही न हो।
यात्री वौखला रहे थे।

"इसे फिर वापस क्यों ले आए हैं?"

"वहीं छोड़-छाड़ देते।"

"क्या ज़रूरत थी इतना पीटने की। वैसे ही वस से वाहर फेंक देते
तो क्या हो जाता। पड़ा रहता सड़क किनारे रात-भर।" पीछे से ए
आवाज़ आई, "इसका फैसला अव पुलिस स्टेशन में ही होगा। यू का
टेक द ला इन योर हैण्डस।"

क्या फजूल-सा फैसल. किया गया था। कौन था यह वेवकूफ,
वड़ा न्यायप्रिय नागरिक का मुखौटे पहने वैठा है। थाने पहुंचकर
होगा। सव जानते थे। इसलिए सव यात्री मन-ही-मन चिढ़ रहे थे

घटना का वृत्तान्त पुलिस लिखेगी तो कण्डक्टर-ड्राइवर क्या यूं ही छोड़ दिए जाएंगे ? मैंने गोपाल की ओर देखा, कहीं मुझसे नाराज़ तो नहीं। मैंने क्यों यूं ही पंगा लिया। बाकी के यात्री भी तो थे बस में। उनमें से कोई क्यों नहीं रोया-चिल्लाया। मैं ही क्यों अगुआ बनी। बस में अधिकतर पुरुष थे। कुछ की पत्नियां बच्चे साथ थे। क्यों नहीं विरोध कर सके वे सब लोग ? मुझे क्या पड़ी थी मुख्तारी करने की ? करनाल पुलिस स्टेशन के सामने बस रोकी गई। पुलिस के दो आदमी बाहर आए। ड्राइवर ने एक झटके से बस का दरवाजा खोला। बाबाजी को एक धक्का देकर सिपाही की ओर फेंका और बोला—" बन्दकर दो इसको, औरतों को छेड़ रहा है। पिस्तौल की धमकी दे रहा है और बेहिसाब शराब पी रखी है इसने।" तीन अभियोग लगाकर ड्राइवर काफी आश्वस्त-सा लग रहा था। थानेदार के एक इशारे पर बाबाजी की तलाशी ली गई। कोई पिस्तौल विस्तौल न मिली। शराब की गंध दूर-दूर तक आ रही थी। थानेदार ने मुड़कर कहा :

"ठीक है, किसे छेड़ रहा था ?" क्योंकि बाबाजी ने किसी भी औरत से छेड़खानी न की थी, बस में बैठी सभी महिलाएं चुप रहीं। थानेदार ने दो-एक बार अपना प्रश्न दोहराया। ड्राइवर जानता था कि सबसे पहले वह और कंडक्टर ही सजा पाएंगे। मारपीट उन्होंने की थी। एक आदमी को लहू लुहान किया था और उन दोनों के विरुद्ध गवाही देने वाला एक यात्री तैयार खड़ा था। आखिरी दांव लगाते हुए ड्राइवर बोला, "ओए हुन की सब नू सप सुंघ गया। ओस वकत ते सब बोल रहे सन, मारो, कुटो, आए हुन की हो गया सब नू। कोई ता बोले। किन्नू छेड़्या-सी। ओए हुन बोल दे क्यों नई। केड़ी जनानी-सी···" बस की खिड़की के बाहर खड़ा थानेदार बाबाजी ड्राइवर और बहुत-से लोग इन्तजार कर रहे थे। बस में सम्पूर्ण रूप से सन्नाटा था। मानो बस खाली हो। हद हो गई। हम लोग कितने दब्बू हो गए हैं। चुपचाप जुल्म सहते रहते हैं। सबके सब बदस्तूर ऐसे बैठे थे मानो कुछ घटा ही न हो और अगर घटा भी था तो उनमें से कोई भी उस समय मौजूद न था। क्या इनका इरादा पूरी रात थाने में ही बिताने का है ? अगर कण्डक्टर ड्राइवर फंसते हैं तो बस और

यात्री क्या शिमला पहुंच जाएंगे ? अव थानेदार वस के अन्दर आ
या था और फिर से पूछ रहा था, "भई किसे छेड़ा है वावाजी ने ?
ोई वोलता क्यों नहीं ?"

"मुझे छेड़ा था ।" मुझसे रहा न गया ।

"आप आइए, अन्दर थाने में आकर अपनी रिपोर्ट लिखवा दीजिए ।"

"मैं विल्कुल वस से वाहर नहीं निकलूंगी और न ही थाने के अन्दर
जाऊंगी । इस वावाजी ने हमें काफी देर से परेशान कर रखा है । अव आप
हम लोगों को परेशान करेंगे ।" मैं लगभग चीख रही थी । इतनी जोर-
जोर से कि थानेदार भी थोड़ा सहम गया ।

"पर वहन जी जव तक आप अपनी शिकायत हमें नहीं वताएंगी, हम
वावाजी को सजा कैसे देंगे ।"

"वता तो दिया है, इतना काफी नहीं है कि इस आदमी ने मुझे छेड़ा
है । शराव की वू तो आप को भी आ रही है । आप इसे ले जाइए और
हम लोगों को जाने दीजिए ।"

"आपलोग ऐसे कैसे जा सकते हैं ? वावाजी, अव आप वताइए आपको
मारा-पीटा किस-किसने है ।" कहते-कहते थानेदार वस से वाहर हो गया ।
वावाजी की ऐनक तो पिटाई के दौरान कहीं गिर चुकी थी । वह परेशान
हालत अपने दुश्मनों को इधर-उधर ढूंढ़ रहे थे । जवकि आक्रमणकारी
ठीक उनके सामने खड़े थे । वह न्यायप्रिय नागरिक जिसके कहने पर वस
इस समय थाने के सामने खड़ी थी । वोला :

"अजी, यह खड़े हैं दोनों ड्राइवर और कण्डक्टर । इन्होंने ईंटों से
मारा है वेचारे वावाजी को ।"

"विल्कुल गलत, एकदम झूठ ।" यह आवाज़ गोपाल की थी ।
गोपाल जो अव तक एकदम तटस्थ से वैठे थे । वस की चुप्पी को
चीरती हुई गोपाल की रौवदार सहज, संतुलित आवाज़, उच्च अधिकारी
होने का विश्वास दिलाती हुई, "यह झूठ है । ड्राइवर तो अपनी सीट से उठा
तक नहीं । जव सव लोगों ने वावाजी की धमकियों से तंग आकर इन्हें
उतारने का अनुरोध किया तो वस रोक दी गई । वावाजी जल्दी-जल्दी में
खुद ही वाहर जा गिरे । खून वहता देख हम लोगों ने तरस खाकर वस

में दोबारा बैठा लिया। बसमें चढ़ते समय बाबाजी दो बार लुढ़क गए और ईंटों के एक ढेर पर जा गिरे थे। इन्हें किसी ने नहीं पीटा है, शराब ज्यादा पी रखी है, ठीक से खड़े भी नहीं हो सकते न।"

न्यायप्रिय नागरिक इस अनैतिक बयान से व्यग्र हो गया था। सब यात्री गोपाल के बयान का समर्थन कर रहे थे और वह बेचारा सांसें निपोर रहा था।

बस फिर से ग्रैंड ट्रंक रोड पर रवाना हो चुकी थी। चर्चा का विषय हम दोनों थे—भई इन दोनों ने बचा लिया। नहीं तो आज रात थाने में ही कटती।

रात बारह बजे अम्बाला से एक किलोमीटर दूर सड़क किनारे एक ढाबे के बाहर बस रुकी।

"भाई खाना-पीना हो जाए। बस आधा घंटा रुकेगी।" कहकर ड्राइवर कण्डक्टर ढाबे के पिछवाड़े चले गए। ढाबे के बाहर बहुत बड़ा मैदान था। बीस-पच्चीस लम्बे-लम्बे मेज लगे थे। आस-पास लकड़ी की कुर्सियां और चारपाइयां पड़ी थीं। बस से उतरते ही मुझे महिला यात्रियों ने घेर लिया और दबे स्वरों में पूछताछ करने लगीं। सभी की आवाज़ में कौतूहल था। उनकी नजरों में मैं बड़ी ही विचित्र औरत थी, जिसे बस के अंधेरे में एक भगवे कपड़ों वाले बाबाजी ने छेड़ा था। उन्हें लग रहा था कि उनके साथ बड़ा भारी धोखा हुआ है। इतनी बड़ी वारदात हो गई और उन्हें खबर भी न लगी। उनकी आंखें बह रही थीं—बेचारी कैसे फूट-फूटकर रो रही थी। ज़रूर कोई ज्यादती की होगी बाबाजी ने।

मैंने एक स्थूल-सी दृष्टि से उन औरतों को देखा। व्यक्तिगत कारणों से ग्रस्त होकर मैंने बड़ी बेबसी की हालत में एक झूठ सरसराया था। उसका खण्डन करना अब बेकार है और फिर मेरे झूठ के कारण इन औरतों को जो सहज गुदगुदी हो रही थी उसका सुख छीनने का अधिकार मुझे न था। मुझे तो पानीपत के आस-पास पहुंचते-पहुंचते रोना ही था—बाबाजी ने तो मुझे खुले आम फूट-फूटकर रोने का बहाना दे दिया था।

बस यात्री क्या शिमला पहुंच जाएंगे ? अब थानेदार बस के अन्दर आ गया था और फिर से पूछ रहा था, "भई किसे छेड़ा है बाबाजी ने ? कोई बोलता क्यों नहीं ?"

"मुझे छेड़ा था।" मुझसे रहा न गया।

"आप आइए, अन्दर थाने में आकर अपनी रिपोर्ट लिखवा दीजिए।"

"मैं बिल्कुल बस से बाहर नहीं निकलूंगी और न ही थाने के अन्दर जाऊंगी। इस बाबाजी ने हमें काफी देर से परेशान कर रखा है। अब आप हम लोगों को परेशान करेंगे।" मैं लगभग चीख रही थी। इतनी जोर-जोर से कि थानेदार भी थोड़ा सहम गया।

"पर बहन जी जब तक आप अपनी शिकायत हमें नहीं बताएंगी, हम बाबाजी को सजा कैसे देंगे।"

"बता तो दिया है, इतना काफी नहीं है कि इस आदमी ने मुझे छेड़ा है। शराब की बू तो आप को भी आ रही है। आप इसे ले जाइए और हम लोगों को जाने दीजिए।"

"आपलोग ऐसे कैसे जा सकते हैं ? बाबाजी, अब आप बताइए आपको मारा-पीटा किस-किसने है।" कहते-कहते थानेदार बस से बाहर हो गया। बाबाजी की ऐनक तो पिटाई के दौरान कहीं गिर चुकी थी। वह परेशान हालत अपने दुश्मनों को इधर-उधर ढूंढ़ रहे थे। जबकि आक्रमणकारी ठीक उनके सामने खड़े थे। वह न्यायप्रिय नागरिक जिसके कहने पर बस इस समय थाने के सामने खड़ी थी। बोला :

"अजी, यह खड़े हैं दोनों ड्राइवर और कण्डक्टर। इन्होंने ईंटों से मारा है बेचारे बाबाजी को।"

"बिल्कुल गलत, एकदम झूठ।" यह आवाज़ गोपाल की थी।

गोपाल जो अब तक एकदम तटस्थ से बैठे थे। बस की चुप्पी को चीरती हुई गोपाल की रौबदार सहज, संतुलित आवाज़, उच्च अधिकारी होने का विश्वास दिलाती हुई, "यह झूठ है। ड्राइवर तो अपनी सीट से उठा तक नहीं। जब सब लोगों ने बाबाजी की धमकियों से तंग आकर इन्हें उतारने का अनुरोध किया तो बस रोक दी गई। बाबाजी जल्दी-जल्दी में खुद ही बाहर जा गिरे। खून बहता देख हम लोगों ने तरस खाकर बस

में दोबारा बैठा लिया। बसमें चढ़ते समय बाबाजी दो बार लुढ़क गए और ईंटों के एक ढेर पर जा गिरे थे। इन्हें किसी ने नहीं पीटा है, शराब ज्यादा पी रखीहै, ठीक में खड़े भी नहीं हो सकते न।"

न्यायप्रिय नागरिक इस अनैतिक बयान से व्यग्र हो गया था। सब यात्री गोपाल के बयान का समर्थन कर रहे थे और वह बेचारा खीसें निपोर रहा था।

बस फिर से ग्रैंड ट्रंक रोड पर रवाना हो चुकी थी। चर्चा का विषय हम दोनों थे—भई इन दोनों ने बचा लिया। नहीं तो आज रात थाने में ही कटती।

रात बारह बजे अम्बाला से एक किलोमीटर दूर सड़क किनारे एक ढाबे के बाहर बस रुकी।

"भाई खाना-पीना हो जाए। बस आधा घंटा रुकेगी।" कहकर ड्राइवर कण्डक्टर ढाबे के पिछवाड़े चले गए। ढाबे के बाहर बहुत बड़ा मैदान था। बीस-पच्चीस लम्बे-लम्बे मेज लगे थे। आस-पास लकड़ी की कुर्सियां और चारपाइयां पड़ी थी। बस से उतरते ही मुझे महिला यात्रियों ने घर लिया और दबे स्वरों में पूछताछ करने लगी। सभी की आवाज में कौतूहल था। उनकी नजरों में मैं बड़ी ही विचित्र औरत थी, जिसे बस के अंधेरे में एक भगवे कपड़ों वाले बाबाजी ने छेड़ा था। उन्हें लग रहा था कि उनके साथ बड़ा भारी धोखा हुआ है। इतनी बड़ी वाग्दान हो गई और उन्हें खबर भी न लगी। उनकी आखें कह रही थी—बेचारी कैसे फूट-फूटकर रो रही थी। जरूर कोई ज्यादती की होगी बाबाजी ने।

मैंने एक स्थूल-सी दृष्टि से उन औरतों को देखा। व्यक्तिगत कारणों से ग्रस्त होकर मैंने बड़ी बेबसी की हालत में एक झूठ सगनगढ़ा था। उसका खण्डन करना अब बेकार है और फिर मेरे झूठ के कारण इन औरतों को जो सहज गुदगुदी हो रही थी उसका सुख छीनने का अधिकार मुझे न था। मुझे तो पानीपत के आस-पास पहुचते पहुचते रोना ही था—बाबाजी ने तो मुझे खुले आम फूट-फूटकर रोने का बहाना दे दिया था।